॥ अर्हम् ॥

# कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

# ❋ स्तोत्रत्रयी ❋

( सकलार्हत्स्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि । )




पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

सुणाव निवासी

धर्मप्रेमी श्रेष्ठीवर्य खीमचंदभाईनासुपुत्रो

नगीनदास तेमना धर्मपत्नी कमलाबेन

कान्तिलाल तेमना धर्मपत्नी शारदाबेन

तथा

खीमचंदभाईनावडिलबन्धुनासुपुत्र

मणिलाल चुनीलालना धर्मपत्नी भुरीबेन

उपरोक्त त्रणेना धर्मपत्नीओनी अट्ठाइतपनी

तपश्चर्या निमित्ते सादर सप्रेम

स्वाध्यायार्थे भेट ।



आचार्य श्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

प पू आचार्य श्रीविजयकस्तूरसूरिशिष्यरत्न



पन्यासप्रवर श्रीकीर्तिचन्द्रविजयजी गणिवर

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय - नेमि - विज्ञान - कस्तूरसूरिसद्गुरुभ्यो नमः

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता-

# ❀ स्तोत्रत्रयी ❀

( सकलाऽर्हत्स्तोत्र - वीरजिनस्तोत्र - महादेवस्तोत्राणि । )

तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रमृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्म-
चार्याचार्यवर्यश्रीद्विजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्या-
चार्यवर्यश्रीमद्विजयविज्ञानसूरिश्वर-पट्टधर-सिद्धान्तमहोदधि-
प्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-
पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिवरविरचित-
कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता ।

सम्पादक .—

विक्रम सवत् - २०१६ मुनि श्रीअजितचन्द्रविजयः ।

# प्रकाशकीय

प. पूज्य पंन्यासप्रवर श्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिवर महाराजसे रचित कीर्तिकलानामक संस्कृत तथा हिन्दीव्याख्यासहित—कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यनिर्मित-स्तोत्रोंमें, द्वात्रिंशिकाद्वयी (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका) तथा वीतरागस्तवके चार पुस्तकोंमें प्रकाशन हो चुके हैं। जिसका जैन समाज तथा अन्यसभी अच्छा स्वागत तथा आदर किया गया है। एवं विद्वानोंने उनकी मुक्तकंठसे प्रशंसाकी है।

प्रस्तुत स्तोत्रत्रयी नामके दो ग्रन्थोंके प्रकाशनमें उक्त पंन्यास महाराजके द्वारा निर्मित कीर्तिकलानामकी संस्कृतव्याख्या तथा हिन्दीभाषानुवादसहित उक्त आचार्यमहाराजके तीन सकलार्हत्स्तोत्र वीरजिनस्तोत्र महादेवस्तोत्र—स्तोत्रोंका समावेश किया गया है। जैसे उक्त तीनों स्तोत्रोंका संस्कृत तथा हिन्दीव्याख्यासहित एक पुस्तक तथा केवल हिन्दीव्याख्यासहित दूसरी पुस्तक।

सकलार्हत्स्तोत्र उक्त आचार्यमहाराजविरचित प्रसिद्ध महान् ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितका मंगलाचरण है। इसका जैन समाजमें क्या स्थान है इस विषयमें कुछ कहना इस स्तोत्रकी प्रसिद्धि एवं आदर तथा प्रतिक्रमणक्रियामें अनिवार्यरूपसे पाठक्रमके समावेशको देखते हुए—एक धृष्टता जैसे ही होगी। इस स्तोत्रके

संस्कृत, हिन्दी तथा गुजराती व्याख्यासहित अनेक प्रकाशन अन्यत्र हो चुके हैं। फिरभी कीर्तिकलव्याख्याकी अपनी विलक्षणशैली, शब्द-प्रकरण आदिको ध्यानमें रखते हुए पदार्थ तथा भावार्थका स्पष्टीकरण, चमत्कारिक लगे, ऐसे मनोग्राह्य अर्थोंका विश्लेषण तथा कर्त्ताके भावोका प्रामाणिकरूपसे अधिकाधिक अनुसरण-आदि सभी विशिष्टतायें द्वात्रिंशिकाद्वयी तथा वीतरागस्तवके जैसे ही इस पुस्तक में भी अपने उत्कृष्टरूपसे विद्यमान हैं।

वीरजिनस्तोत्र उक्त आचार्यमहाराजविरचितप्रसिद्ध परिशिष्ट-पर्वका मगलाचरण है। तथा इस स्तोत्रका सकलार्हत्स्तोत्रके साथ ही वड़े आदर एव भक्तिसे पाठ किया जाता है—यह विदित है।

महादेवस्तोत्र, प्राय अतिसरल समझे जानेके कारण आज तक किसीभी व्याख्याताओंको आकृष्ट नही कर सकाथा-ऐसी सम्भावनाकी जा सकती है। किन्तु यहा यह विशेषत ध्यान देने योग्य है कि-इस स्तोत्रके कितने श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं जैन समाजकी भावनाओंको अक्षरदेहमें अत्यन्तसरल एवं प्रभावोत्पादक रीतिसे व्यक्तकरते हैं। जैसे-इस स्तोत्रके अन्तिमश्लोक। यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह इस वातका प्रमाण है कि जैन विचारधारा व्यक्ति नहीं, किन्तु गुणको प्राधान्य देती है। इस स्तोत्रमें परमात्मा, अन्तरात्मा तथा वाह्यात्माका स्वरूप स्पष्टरूपसे वताया गया है। यहा वताये अर्थको देखते हुए ऐसा लगता है कि अन्यग्रन्थके टीकाकारो के वाह्यात्माकापदार्थ अनुमान पर आधारित है। यह, सरल जानकर

इस स्तोत्रकी पठन पाठनमें उपेक्षाका परिणाम है ऐसा स्पष्ट परिलक्षित होता है। तथा इस स्तोत्रकी कीर्तिकलाव्याख्याके अवलोकनके बाद यह प्रगट ही ज्ञात होता है कि शब्दकी दृष्टिसे सरल लगतेहुए भी यह स्तोत्र मर्मसे अत्यन्त सारगर्भित है। इसलिये कीर्तिकलाव्याख्यासे इसस्तोत्रका महत्त्व प्रकाशमें आया है-ऐसा कहना कोई अत्युक्ति नहीं। मैं अपनी योग्यताकी मर्यादाओंसे परिचित हूं। फिरभी इतनातो अवश्य ही समझता हूं तथा कह सकता हूं कि कीर्तिकलाव्याख्या सरल, सारगर्भित, उपयोगी एवं प्रशंसनीय है इतना ही नहीं किन्तु इससे चिरकालसे अपेक्षित तथा एक अत्यन्त आवश्यक व्याख्याकी पूर्ति हुई है।

कीर्तिकलासहित अन्य प्रकाशनोंके जैसे ही इस प्रस्तुत प्रकाशनमेंभी श्लोकोंके हिन्दीमें भावार्थमदिये गये हैं। तथा स्पष्ट रूपसे प्रत्येक पदार्थका पृथक् ज्ञान हो और इस प्रकार वाक्यके संस्कृत शब्दोंके अर्थज्ञानमेंभी उपयोगी हो इस दृष्टिसे प्रत्येक पदोंका अर्थ तथा समासवाले पदोंका पृथक्से सङ्कलित अर्थभी दिये गये हैं, जिससे विद्यार्थियों एवं सन्दर्भके जिज्ञासुओंकेलिये इस प्रकाशनकी उपयोगितामें वृद्धि हुई है। जिससे बिना किसीके सहायताके ही श्लोकका अर्थ समझा तथा समझाया जा सकता है। यह बात पुस्तक देखनेके बाद स्वयं ही प्रगट हो जाती है।

इस पुस्तककी इन सब विशेषताओंको देखते हुए इसके प्रकाशनका दुर्लभ सुअवसर प्राप्त होनेसे मेरे लिये कृतज्ञताका तथा

एक शुभकार्यमें भागलेनेके आनन्दका अनुभव होना सकारण ही है। पूर्वमेंभी कीर्तिकला सहित 'द्वात्रिंशिकाद्वयी' तथा कीर्तिकला सस्कृत व्याख्यासहित 'वीतरागस्तव' के प्रकाशनका अमूल्य सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था। वाचकोंके द्वारा उसका आदर देखकर इस प्रकाशनके कार्यभारको द्विगुण उत्साहसे वहन करनेमें मै समर्थ हुआ हूं, जो स्वाभाविक ही है।

यहा पर. जिनकी अनुकरणीय एव प्रशसनीय आर्थिक सहायताके बल पर इस 'स्तोत्रत्रयी' का प्रकाशन सुचारुरूपसे सम्भव हो सका, उन श्रीखीमचन्दभाई जेसगभाईका आभार सहित उल्लेख करना अप्रासंगिक नही समझा जायगा। श्रीखीमचन्द भाई एक धार्मिक प्रकृति, शुभकार्योंमें उत्साहसे भाग लेनेवाले, सफल व्यापारी तथा अत्यन्त मिलनसार हैं। आपका उपरोक्त गुणोके कारण समाजमें एक विशिष्टस्थान है, जो स्पृहणीय माना जाता है। आप तीसवर्षकी अल्प अवस्थामें ही एक साहसिक व्यापारी होनेके कारण व्यापारके उद्देशसे आफ्रीका गये थे। तथा सहज धार्मिक प्रकृति होनेके कारण आपने सुणावमें मन्दिर तथा उपाश्रयका निर्माणकर प्रचुर पुण्य एव सुयशका लाभ किया है। आप शुभनाम 'नगीनदास' तथा कान्तिलाल इन दो सुपुत्रों तथा अन्य परिवारोंसे भरे पूरे हैं। तथा आपके ही चाचा श्रीमणिलाल चुनीलाल भाई है। जो स्वभावत ही धार्मिक उत्साहवाले, सज्जन तथा आकर्षक व्यक्तित्व सम्पन्न है। इस प्रकार इन दोनों भाईयोका सम्पूर्ण परिवार ही धार्मिक प्रवृत्तियोंके

अनुरागी तथा उनमें सोत्साह भागलेनेवाला है। इस प्रकाशनमें आर्थिक सहायता देकर पूर्ण करनेकेलिये मैं इनकेलिये सहर्ष अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूं।

यहां वाचकोंसे सानुनय निवेदन है कि यद्यपि प्रूफ संशोधन आदिमें पूरी सावधानी रखी गयी है फिरभी दृष्टि तथा मुद्रण दोषसे जो अशुद्धि रह गयी है—उसकेलिये सहानुभूति पूर्वक क्षमा करेंगे। तथा सायमें दिये गये शुद्धिपत्रका यथावसर उपयोग करेंगे।

अन्तमें इस आशा तथा विश्वासके साथ कि वाचक तथा अध्यापक इस स्तोत्रत्रयीके अध्ययन तथा अध्यापनके द्वारा यथा सम्भव अवश्य ही अधिकाधिक समानन्दित होंगे, तथा इस प्रकार श्रीवीतराग जिनेश्वरकी भक्तिसे अपनी आत्माको पवित्र करेंगे इति।

भवदीय —
माईलाल, अम्बालाल,
पेटलादवाला

# ॥ शुद्धिपत्रम् ॥

## सकलार्हत्स्तोत्र कीर्तिकलासस्कृत व्यारव्यासहितम् ।

| पृ० | प० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १ | ७ | भूर्मि | भूमी |
| २ | ११ | भुवर्मनु | भुवोमनु |
| ३ | १७ | भूस | भूस् |
| ४ | २ | भुवस | भुवस् |
| ४ | ११ | स्तौंति | स्तौति |
| ९ | ९ | लोत्पत्य | लोत्पत्त्य |
| १२ | १८ | तिक्ष्णी | तीक्ष्णी |
| १४ | ४ | द्यति | द्युति. |
| १५ | १ | ( भद्रमित्यनन्तरम्–श्रियमितिपाठे तु अन्तरङ्गारिमथनसम्पद-मित्यर्थ , तस्य एव प्रकृतत्वादि वोध्यमि–त्यधिको वोध्य· ।) | |
| १५ | ३ | शिवपोप | शिवश्रीपोप |
| १६ | १५ | व | व |
| २० | १६ | मूलति | मूल्यति |
| २१ | ११ | निवत्तन | निवर्त्तन |
| ३२ | १ | दुप | द्रूप |

## महादेवस्तोत्र कीर्तिकलासस्कृतव्यारव्यासहितम् ।

| पृ० | प० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| ८ | १४ | नार्था | नर्था |
| ८ | १५ | नन्तर | नन्तर |
| २७ | १ | त्रय | त्र्रय |
| २८ | १५ | पेद्येत | पद्येत |
| २९ | १ | क्रिया | क्रिया |
| ३३ | ७ | त्रिह | त्रिह्न |
| ३४ | १६ | एवैक | एवैक |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३५ | ४ | एतक | पाठके |
| ४२ | १ | पुष्पे | पुष्पे |
| ४° | १ | विंके | भिंके |
| ४° | १२ | स्पप। | स्पर्ष |
| ४८ | ९ | एकमूत्ति | एकमूर्ति |

सरकस्तर्भसलगेन कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| ८ | १९ | दस | दर्ष |
| ५ | ५ | स्वामिकी | स्वामीनी |
| ५ | १ | ही | ही |
| २२ | | भरिग्र | भरिग्र |

## शुद्धिपत्रम्

महादेवस्तोत्रं कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

| पृ | प | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १ | ९ | का | के |
| १ | ५ | है | हैं |
| ६ | ९ | बाने | बाभे |
| १९ | १ | मनार्थ | मनार्थ |
| १९ | १ | भय | धर्म |
| ३५ | ७ | मामिर्व | मामियों |
| ४ | ११ | एव | एवं |

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्‌गुरुभ्यो नमः ।

# कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

# ॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

— * —

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठान शिवश्रिय ।
भुर्भुव स्वस्त्रयीशानमार्हन्त्य प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

नामाऽऽकृतिद्रव्यभावै पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हत समुपास्महे ॥ २ ॥

आदिम पृथिवीनाथमादिम निष्परिग्रहम् ।
आदिम तीर्थनाथ च ऋषभस्वामिन स्तुम. ॥ ३ ॥

अर्हन्तमजित विश्वकमलाकरभास्करम् ।
अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगत स्तुवे ॥ ४ ॥

विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ता ।
देशनासमये वाच श्रीसम्भवजगत्पते ॥ ५ ॥

अनेकान्तमताऽम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमा ।
दद्यादमन्दमानन्द भगवानभिनन्दन ॥ ६ ॥

द्युसत्किरीटशाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलि ।
भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि व ॥ ७ ॥

पद्मप्रभप्रभोर्देहभासः पुष्णन्तु वः श्रियम् ।
अन्तरङ्गारिमथने कोपाटोपादिवारुणाः ॥ ८ ॥

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।
नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥

चन्द्रप्रभप्रभोश्चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला ।
मूर्तिर्मूर्तसितध्याननिर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।
अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥ ११ ॥

सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽम्बुदः ।
स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलः पातु वो जिनः ॥ १२ ॥

भवरोगार्तजन्तूनामगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्यः पुनातु वः ॥ १४ ॥

विमलस्वामिनो वाचः कतकक्षोदसोदराः ।
जयन्ति त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः ॥ १५ ॥

स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा ।
अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।
चतुर्धाधर्मदेष्टारं धर्मनाथमुपास्महे ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुख ।
मृगलक्ष्मा तम शान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु व. ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभि· ।
सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु व. श्रिये ॥ १९ ॥

अरनाथ स भगवाश्चतुर्थोऽरनभोरवि ।
चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलास वितनोतु वः ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।
कमद्रून्मूलने हस्तिमल्ल मल्लिमभिष्टुम ॥ २१ ॥

जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचन स्तुमः ॥ २२ ॥

लुठन्तो नमता मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।
वारिप्लवा इव नमे पान्तु पादनखाशव· ॥ २३ ॥

यदुवंशसमुद्रेन्दु कर्मकक्षहुताशन ।
अरिष्टनेमिर्भगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

✓ कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचित कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्ति पार्श्वनाथ श्रियेऽस्तु व· ॥ २५ ॥

✓ कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्र श्रीवीरजिननेत्रयो ॥ २६ ॥

इति सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ।

# श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया ।
महानन्दसरोराजमरालायाऽर्हते नमः ॥ १ ॥

सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।
देवाऽधिदेवं सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

कल्याणपादपाऽऽरामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् ।
विश्वाऽम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥ ३ ॥

पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।
भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं
श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ।



|| अर्हम् ||

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः

# कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

# || श्रीमहादेवस्तोत्रम् ||



प्रशान्त दर्शन यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।
मङ्गल्यं च प्रशस्त च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरता गतः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्त वन्देऽहं तं महेश्वरम् ॥ २ ॥

महाज्ञान भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
महादया-दम-ध्यान महादेव स उच्यते ॥ ३ ॥

महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्त स्वशरीरके ।
निर्जिता येन देवेन महादेव. स उच्यते ॥ ४ ॥

रागद्वेषौ महामल्लौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।
महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारका ॥ ५ ॥

शब्दमात्रो महादेवो लौकिकाना मते मत ।
शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥

शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानाल्लक्षणात्तथा ।
मोहजाल हतं येन महादेव स उच्यते ॥ ७ ॥

नमोऽस्तु ते महादेव ! महामदविवर्जित ! ।
महालोभविनिर्मुक्त ! महागुणसमन्वित ! ॥ ८ ॥

महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।
कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

महाकामो जितो येन महाभयविवर्जित ।
महाव्रतोपदेशी च महादेव स उच्यते ॥ १० ॥

महाक्रोधो महामानो महामाया महामद ।
महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥

महानन्ददये यस्य महाज्ञानी महातपा ।
महायोगी महामौनी महादेव स उच्यते ॥ १२ ॥

महावीर्यं महाधैर्यं महाशीलं महागुण ।
महामृदुक्षमा यस्य महादेव स उच्यते ॥ १३ ॥

स्वयम्भूतं यतो ज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम् ।
अनन्तवीर्यचारित्रं स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

शिवो यस्माज्जिन प्रोक्त. शङ्करश्च प्रकीर्तित ।
कायोत्सर्गी च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः ॥ १५ ॥

साकारोऽपि ह्यनाकारो मूर्तोऽमूर्तस्तथैव च ।
परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्मायमव्यय ।
परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिमाप्तौ चाह्यात्मा तु भवान्तरे ।
अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येप त्रिविध शिव ॥ १८ ॥

सकलो दोपसम्पूर्णो निष्कलो दोपवर्जित. ।
पञ्चदेहविनिर्मुक्त सम्प्राप्त. परमं पदम् ॥ १९ ॥

एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥

एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा· ।
परस्पर विभिन्नानामेकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २१ ॥

कार्यं विष्णु क्रिया ब्रह्मा कारण तु महेश्वर, ।
कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २२ ॥

प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।
अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २३ ॥

वसुदेवसुतो विष्णुर्माता च देवकी स्मृता ।
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्ति कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

पेढालस्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।
मूल च जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्ति· कथ भवेत् ? ॥ २५ ॥

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वर. ।
कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २६ ॥

अक्षसूत्री भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारक ।
तृतीय शङ्खचक्राङ्क एकमूर्त्ति कथ भवेत् ? ॥ २७ ॥

चतुर्मुखो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वर ।
चतुर्भुजो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

मथुरायां जातो ब्रह्मा, राजगृहे महेश्वर. ।
द्वारावत्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

हंसयानो भवेद्ब्रह्मा वृषयानो महेश्वर ।
तार्क्ष्ययानो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

पद्महस्तो भवेद्ब्रह्मा शूलपाणि महेश्वर ।
चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥

कृते जातो भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वर ।
विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३२ ॥

ज्ञानं विष्णु सदा प्रोक्तं ब्रह्मा चारित्रमुच्यते ।
सम्यक्त्वं तु शिवं प्रोक्तमर्हन्मूर्तिस्त्रयात्मिका ॥ ३३ ॥

क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्या ।
इत्येतेऽष्टौ भगवति गीता वीतरागे गुणा ॥ ३४ ॥

क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।
निःसङ्गता भवेद्वायुर्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥

यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभि. ।
अलेपकत्वादाकाशसङ्काश सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्रो वीतराग. समीक्ष्यते ।
ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदित्योऽभिधीयते ॥ ३७ ॥

पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जित· ।
अर्हंस्तस्य नमस्कार· कर्त्तव्य शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥

अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थित· ।
हकारेण हर प्रोक्तस्तस्याऽन्ते परम पदम् ॥ ३९ ॥

अकार आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशक
स्वरूप परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

रूपिद्रव्यस्वरूप वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।
दृष्टं लोकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहा ।
हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्ण प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।
ज्ञात्वा पुण्य च पाप च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

भवबीजाऽङ्कुरजनना रागादय क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति महादेवस्तोत्र समाप्तम् ।



# अध्यात्मसार

श्रीतिमलाभ्यास्यासहितः (यन्त्रस्थः) ।

( सम्पूर्ण–भागों में ) ।

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

## कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

# ॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

## पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-
## कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

सकलाऽर्हणाग्रभूमिं सकलाऽर्हगुणाकरान् ।
सकलाऽर्हद्ध्येयरूपान् नमामि सकलाऽर्हतः ॥ १ ॥

सकलाऽर्हद्भक्तिवशः पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहम् ।
सकलार्हत्स्तोत्रस्य प्रकरोमि कीर्तिकलाऽभिधां व्याख्याम् ॥

अथ कलिकालसर्वज्ञो भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्यस्त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रं नाम महाप्रबन्धं चिकीर्षुर्विघ्नप्रशमनपूर्वकप्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरन् कीर्तनीयाश्चतुर्विंशतिमर्हत एव सकलमङ्गलाऽधिष्ठानतया सरत्नादौ गुणपूजास्थानमित्यार्हन्त्यं प्रणिदधान आह—

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

सकलेति । सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्=सकलानां भूतवर्तमान भविष्यतां न त्वेकस्य द्वयोर्बहूनामेव वाऽर्हताम्, अर्हन्ति सुरासुर नरेन्द्रादिकृतां पूजामित्यर्हन्, तस्य च तस्य च तस्य चेति तेषामुपमाति तीर्थङ्करनामार्हत्पदवाच्यत्वेन प्रसिद्धानाम्, यदुक्तम्— 'नमनार्हन्ति पूजामर्हन्त्येवोत्तमोत्तमो लोके । देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्व नामि"ति । "पूजामर्हत्यरिहननाद्रजोहननाद्रहस्याऽभावाच्चार्हन् पूजे दरादित्यादि"ति कस्यचिद्व्याख्याने शब्दव्युत्पादनोपायान्तरपरत्व कथितमेवम् । सकलशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्ताऽभावादिति बोध्यम् औचित्यादेव शब्दव्युत्पादने यादृच्छिकव्युत्पत्तेरमोघत्वमिति व्युत्पत्ति-विदः । तेषां सकलार्हतां प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठासाधनम्, पूजादेरित्यर्थः । आर्हन्त्यादेव अर्हन्, अन्यथा तु क. अविशेषेण स्यादन्येष्वपत्व । यद्वा सकला अर्हन्तः प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा यस्येति तत्, आगम इत्यर्थः । आर्हन्त्यं अर्हत्सु न स्यात्तर्हि कस्यान्यस्य स्यात् ।। एतेनाऽऽर्हन्त्यप्रतिपादने बीजमुक्तम् । यद्वा सकलार्हतां प्रतिष्ठासाधनं, सकला अर्हन्तो वा यदाश्रय., तस्य सकलागमेष्वाऽर्हतां अभिधेयत्वादवश्यमभिधेयत्वम् । यदुक्तम्— 'अर्थमाधारकं गुणन्नामि"ति । येन अन्यस्यापि अभिधेयत्वं तस्य स्वस्य सदिति किन्तु वक्तव्यमिति चेति भावः । ननु भवतु तस्य सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्, न च तावता स्वस्य कोऽपि लाभ, यथा भयोत्पन्नमनुदिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते इति चेत्तत्राऽऽह—शिवश्रियाः शिवा निरुपद्रवत्वान्निरुपमत्वादपुनरागतिरूपत्वादचलत्वाच्च कर्म-कारणोपरागशून्या या श्रीर्लक्ष्मीर्ज्ञानाऽतिशयादिसमृद्धिस्तस्याः, शिवश्री-रूपत्वेन कल्याणमयत्वान्मोक्षस्य या श्रीरनन्तज्ञानदर्शनाऽऽनन्दादि

समृद्धिस्तस्या वा, सर्वकल्याणसम्पद इत्यर्थ.। "श्व.श्रेयस शिव भद्रं कल्याण मङ्गल शुभमि"ति, "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्रीरिव दृश्यत" इति चाऽमर.। अधिष्ठानम्=स्वस्मिन् याऽधिष्ठितिरधिकं विशेषेणेतरविलक्षणतया स्थितिस्तत्साधनम्। अधितिष्ठत्यस्मिन्निति कारणे कार्योपचारादधिष्ठानसाधनेऽधिष्ठानोक्तिः, आश्रय इत्यर्थ.। अर्हत्स्वेव तादृशश्रीस्थिति., तत्र हेतुश्चाऽऽर्हन्त्यमित्युपचारादार्हन्त्यमेव तदधिष्ठानमिति हृदयम्। अर्हन्त्यादेव तादृशश्रीलाभो नाऽन्यथा, कथमन्यथाऽर्हत्स्वेव तादृशश्री नोऽन्यत्रेति तादृशश्रीलाभ एवाऽसाधारणं प्रयोजनमित्यतस्तदवश्यं प्रणिधेय प्रेक्षावतेति भाव.। तदेव गुणानुक्त्वा महिमानमाह—भूर्भुवःस्वस्त्रयीशानम्=भूर्नागलोक, पातालमित्यर्थ। भुवर्मनुष्यलोक स्व. स्वर्ग तेषा त्रयी तस्या ईशानमीशित्वाऽनुगुणमहिम, धर्मधर्मिणोरभेदाद्धर्मी चेदीशानो धर्मोऽपीत्येवमुक्तिरिति बोध्यम्। ईशानत्वप्रयोजकत्वात्तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं च। अर्हन् हि भूर्भुवं स्वस्त्रयीशान, यदुक्तम्—"मूर्ध्ना यस्मै नमस्यन्ति सुरासुरनरेश्वरा" इति, "छत्रत्रयी त्रिभुवनप्रभुत्वप्रौढिशसिनी"ति च। न हि कोऽप्यनीशानमानमति, य च सर्वे नमस्यन्ति स सर्वेषामीशान', अत एव छत्रत्रयाद्यतिशय इति ध्येयम्। "भूस, भुवसि"ति यथाक्रम नागलोकमनुष्यलोकवाचकाविति सिद्धहेमबृहद्वृत्ति। "स्वरव्यय स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालया" इति चाऽमर। महान् महिमाऽऽर्हन्त्यस्य, यदुत तत्प्रभावात्त्रिभुवनेशानत्वमिति भाव.। यदपि समाधानम्—"अत्राद्यन्तयोर्भूस् स्वरश्ब्दयो· पातालनाकिलोकवाचकयो सन्निध्यात्तदन्तरालवर्त्तिभुवश्शब्दस्य मर्त्यलोकवाचकत्वमनन्यगतिकत्वेन नाऽयुक्त-

मिति । तत्राऽनन्यगतिकत्वेनेत्यसमञ्जसम् । यदि गतिर्नास्तीति यादृच्छिकोऽर्थः कल्प्यते । अत्र च शुभस्य शब्दस्य मर्त्यलोकेऽनन्य उक्तार्हत्सामान्य एव गतिरिति कुतोऽनन्यगतिकत्वमिति । विशेष माह—आर्हन्त्यम्=अर्हतो भाव कर्म चाऽऽर्हन्त्यम् । "अर्हतोऽन्त्य च" (सि हे ७१-६२) इति सूत्रेण न्तादेशो च सिध्यति । चतु स्त्रिंशदतिशयप्रातिहार्यविस्तारेत्यर्थः । सहजातिशयादि केवलज्ञानादिमी यावत् । तत्, प्रणिदध्महे=कायवाङ्मनोभिस्तन्मयत्वं साधयाम, यद् हि यत्कर्मसिद्धिःस्यादिति हृदयम् । तद्धि भावरूपत्वात्सन्निधेयत्वा न्नतूपासनादिकर्माऽर्हतीति तत्प्रणिदध्महे इति भावः । अस्मिंस्तोत्रे सर्वत्रा ऽनुष्टुप्छन्द ॥ १ ॥

तदेवमुपक्रमकारेण धर्मे स्तुत्वा धर्मिणं स्तौति—

नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैःपुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥ २ ॥

नामेति । सर्वस्मिन्=सर्वत्रैव, प्रत्यक्षैकत्वेन वा, क्षेत्रे= भरतमहाविदेहादौ क्षेत्ररूपवाच्ये, काले=अवसर्पिण्यादात्मके प्रत्यारे काले, वा समुच्चये तेन सर्वस्मिन्निति क्षेत्रकालयोर्द्वयोर्विशेषणम्, सर्वस्मिन् क्षेत्रे सर्वस्मिन् काले चेत्यर्थः । त्रिजगज्जनम्=भवना नस्वेचरस्य द्वयोरेव वा जगतां भुवनानां जनं प्रजाम्, 'लोके जन प्रजा" इति हैम । अत्र जनमिति सामान्योक्त्या देवाऽन्तरस्यापि पतपाताऽभाव सूच्यते । नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः=नाम नामनिक्षेपविषय भवनस्पर्शादीनि, आकृति स्थापनानिक्षेपविषयोऽर्हत्प्रतिमादिः, द्रव्य

द्रव्यनिक्षेपविषय., यस्य जीवस्याऽर्हत्पर्यायो भावी स भविष्यदर्हज्जीव । भावो भावनिक्षेपविषयोऽर्हत्पर्यायापन्न समवसरणाद्यवस्थितोऽर्हन्, तैरेतैश्चतुर्भि प्रकारै. पुनतः=शुचीकुर्वत, नामस्मरणादिना नाम्ना कृत्वा, आकृतेर्वन्दनपूजनादिनाऽऽकृत्या कृत्वा, द्रव्यस्य पितृत्वपुत्रत्व-सख्यदास्योपचारपरिचरणादिना द्रव्येण कृत्वा, भावस्य देशनाश्रवणाऽतिशयादिना भावेन कृत्वा चाऽन्तर्बहिर्मलराहित्य जायते जनस्येति तै प्रकारैरर्हन् त्रिजगज्जन पुनातीत्युच्यते इति बोध्यम् । एतेन तेषा-मवश्यसमुपास्यत्व सूच्यते । येन हि स्वस्य पवित्रीकरण सोऽवश्य सेवनीयो भवति मतिमताम्, अतस्तादृशान्, अर्हतः=अर्हत्पदवाच्या-नृषभादितीर्थकृत., समुपास्महे=सम्यग् भक्तिश्रद्धादिनिर्भरतया पर्युपा-स्महे, यथा पवित्रीकृता. स्याम इति हृदयम् । त्रिजगत्पवित्रीकरणलक्षणं वैलक्षण्यमर्हतोऽसाधारणमिति तात्पर्यम् । यद्यपि सर्वत्र सर्वदा च न भावाऽर्हतो विद्यमानता, तथापि नाम्नाऽऽकृत्या द्रव्येण च पवित्रीकार-क्रियासम्पत्तेः क्वापि भावेन च तत्सम्पत्तेस्तैश्चतुर्भि पवित्रीकरणस्य सामान्यत उक्तिर्युज्यत एव । नहि सर्वदा सर्वत्र च तच्चतुष्टये तात्पर्य-मसम्भवादिति ध्येयम् ॥ २ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेण सामान्यतोऽर्हत स्तुत्वा तद्विशेषान् यथाक्रम स्तुवन्नादौ प्रथममृषभनाथ स्तौति—

**आदिम पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम् ।**
**आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिन स्तुमः ॥ ३ ॥**

आदिममिति । आदिमम्=आदौ भव आदिम तादृशम्, पृथिवीनाथम्=पृथिव्या नाथ ईश इति तम्, युगादौ पृथिव्यां न कोऽपि राजाऽऽसीत् । कच्छमहाकच्छादिस्वामी न सामी तस्मिममनाथेऽत्राधिप आसीदिति भावः, राज्याभिषेकः इत्यनाचार्य वर्णितमिति बोध्यम् । ननु पृथिवीनाथो न स्तुत्यर्हः साम्प्रतमैहिककामनाऽस्मादृशामुष्मिककामनायाश्चतोऽसिद्धेरत्यत आह—आदिमम् प्रथमम्, निष्परिग्रहम्=परिग्रहो दाराऽगारादिस्वामित्वं, तस्माद्विरहितो निष्परिग्रहो निर्ग्रन्थस्तम्, युगादौ स एव सर्वप्रथमं परिग्रहत्यागम इति भाव्यम् । ननु बहवो निष्परिग्रहा इति न तत्र कस्याऽपि निष्परिग्रहेण स्तुत्यताऽऽयाति समानत्वादित्यत आह—आदिमं तीर्थनाथम्=तीर्थं साधुसाध्वीश्रावकश्राविकाख्यं समुदायरूपं चतुर्विधसङ्घस्तस्य नाथ इव विधिनिषेधोपदेशकत्वात्तीर्थङ्कर इत्यर्थः । अवसर्पिणीकालप्रथमतीर्थप्रवर्तयिता आदिनाथ भगवान् । केवलज्ञानानन्तरं च समवसरणे तेन कृपया देशनया प्रबुद्धानां गृहिमहात्मनामणुव्रतानां प्रभोर्विहारकाले चतुर्विधं सङ्घः स्थापितः समुदाये । प्रथममित्येकस्यैकदाऽपि सर्वत्र तदन्वयेनेष्टं सिद्धमपि, तथापि सर्वत्र मातापितृनेत्रवैकल्यदर्शनाय साक्षात्कृतिरिति बोध्यम् । स च इत्यपेक्षायामाह—ऋषभस्वामिनम्=ऋषभः प्रथमस्तीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे मात्रा स्वप्ने प्रथममृषभदर्शनाद्वृषभलाञ्छनत्वाच्च पितृभ्यामृषभ इति नामाऽस्य, स चाऽसौ स्वामी च स्वामी, तम्, स्तुवे=कीर्तयामि । कीर्तनं लोकविलक्षणगुणैर्विशिष्टप्रभुत्वेनेति बोध्यम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमजितजिनं स्तुवन्नाह—

**अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकरभास्करम् ।**
**अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥**

अर्हन्तमिति । **विश्वकमलाकरभास्करम्**=विश्वं जगत् । तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति जगज्जीवसमुदयः कमलानां स्वनामख्यातानां पुण्यविशेषाणाम्=पङ्कजानामाकरः खनिरिव, तस्य प्रबोधकत्वात्तत्सम्बन्धी भास्करः सूर्य इव भास्कर इति गौणी लक्षणा, तं तादृशम् । यथा हि सूर्यः स्वकिरणैः कमलानि प्रबोधयति=विकासयति, तथाऽयं जनान् देशनावाग्भिः प्रबोधयति=प्रबोधं ददातीति क्रियासाम्यादुपमा । सा च कमलप्रबोधोऽन्यो जगत्प्रबोधश्चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसाय-रूपाऽतिशयोक्त्यनुप्राणिता । एतेन तस्य तादृशी देशनावाग्यया विश्वं प्रबोध्यत इति वचनाऽतिशयः सूच्यते । "स्यादाकरः खनिः खानिरि"ति हैमः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—**अम्लानकेवला-ऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतम्**=अम्लानोऽमलः, अतिस्वच्छ इत्यर्थः, तादृशो यः केवलं तदाख्यं क्षायिकं ज्ञानमादर्शो दर्पण इव, तत्र सङ्क्रान्तं विषयतया प्रतिबिम्बितं जगत्तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति जगत्पदार्थसार्थो यस्य तं तादृशम् । अत्राऽम्लानेति न केवलविशेषणमव्यभिचारात्सम्भव-व्यभिचाराभ्यां विशेषणस्य सार्थक्यात् । आदर्शविशेषणं तु युज्यते, तादृशश्चैव स केवलज्ञानोपमानं भवितुमर्हति, तस्यैव च प्रतिबिम्ब-सङ्क्रान्तियोग्यताऽपि । किन्तु तथा सति तस्य केवलपदानन्तरमादर्श-पदसमभिव्याहारेण प्रयोग उचितः । तथाप्येकत्रौचित्यादन्यत्र च तथा-

स्वाभाव्याद्विमलं केवलमिति बोधकत्वया च समस्तस्य केवलदर्शीति पदस्यैव तद्विशेषणमिति बोध्यम् । अत्र केवलस्याऽऽदर्शतुल्यतया तत्र जगत्प्रतिबिम्बीभाव उचित एव । किन्तु ज्ञाने प्रतिबिम्बीभावोऽन्य आदर्शे चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिमूला उपमा । एवञ्च यस्य ज्ञाने जगत्सङ्क्रान्तं तस्य जगत्प्रबोधकत्वं नाऽसम्भवमिति जगत्प्रबोधे ज्ञाने जगत्सङ्क्रान्तेर्हेतुभावात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तथाऽतिशयोक्त्यनुप्राणितोपमोत्थापितमिति सङ्करः । एतेन तस्य जगद्विषयकं ज्ञानमिति ज्ञानाऽतिशयो ध्वन्यते । "दर्पणे मुकुराऽऽदर्शावि"त्यमरः । अत एव, अर्हन्तम्=सुरासुरनरेन्द्रादिकृतां पूजामर्हतीति तादृशम् तीर्थङ्करमित्यर्थः । यो हि विश्वप्रबोधककेवलज्ञानवान् सोऽर्हत्त्वेन भवतीति भावः । यो हि सर्वेषामुपदेशकस्तस्य सर्वैः कृता पूजा युज्यत एवेति पूजातिशयो ध्वन्यते । ईदृशसकलविशेषणविशिष्टाभिधानाय विशेष्यवाक्यापूरणाय चाऽऽह— अजितम्=न जितो वशीकृतो रागादिभिः बाह्याऽऽन्तरारिभिरिति स इत्यन्वर्थोऽजितनामा द्वितीयस्तीर्थङ्करः अस्मिन् गर्भस्थे जननी द्यूते मया न जितेति तदनुसारेण पित्रा कृताऽजिताऽभिधानम्, तम् । यो हि वैरजितस्ते तेनैव जिता इति यो वीतराग स एवोक्तविशेषणमर्हति नाऽन्य इति भाव । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशयो ध्वन्यते । स्तुवे=स्तुतिविषयीकरोमि । अत्रैकवचनं पूर्वत्र च बहुवचनमित्यसङ्गतिर्नो भावनीया एकस्मिन्नर्थेऽप्यस्मदो बहुवचनाऽनुशासनात् एकस्मिन्नपि समाधेयम् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयं श्रीसम्भवजिनं स्तुवन्नाह—

**विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।**
**देशनासमये वाचःश्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥**

विश्वेति । **देशनासमये**=देशना दानशीलतपोभावभेदाच्चतुर्विध-धर्मोपदेश, यदुक्तम्—'दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम् । मन्ये युगपदाख्यातु चतुर्वक्त्रोऽभवद्भवानि"ति । केवलोत्पत्यनन्तरं देवैर्विकृते समवसरणे केवलिना जिनेश्वरेण दीयमानं प्रवचनं देशनेति प्रसिद्धमिति बोध्यम् । तस्या देशनाया य समय कालस्तस्मिन्, देशनासमयभवा इत्यर्थ. । यद्वा देशनाया य समय सङ्केत आगमादिरूपेण प्रवृत्तः सम्प्रदायस्तस्मिंस्तत्र वर्तमाना श्रुतरूपा वाच, **ताः**=प्रसिद्धाः, बहु-विषयत्वान्नानाविधाः श्रोत्रनुकूलभाषापरिणतिशीलत्वाच्च नानाप्रकाराः, यदुक्तम्—"देवा दैवीं नरा नारीमसुरा आसुरीं तथा । तिर्यञ्चोऽपि च तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरमि"ति । ततश्चाऽखिलवाग्विलक्षणत्वाद-निर्वचनीया इत्यर्थः । ननु भवतु तास्तथा, तेनाऽस्माक को लाभ इत्यतो विशेषणमाह—**विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्याः**=विश्वे सर्वे ये भव्याः सेत्स्यन्तो जना, सेत्स्यन् भव्योऽन्योऽभव्य इति हि सम्प्रदाय । विश्वे जगति ये भव्या जना इति वा, त आरामा उप-वनानीव, वाक्सलिलसेचनादिना पोषादिमत्त्वसाधर्म्यात् । "आरामः स्यादुपवनमि"त्यमरः । तेषा कुल्यातुल्या उद्यानसारिणीसन्निभा । यथा हि सारिणीसलिलसेकेनोपवनवृक्षलतादयो वर्धन्ते पुष्पफलादि-समृद्धिमन्तश्च जायन्ते, तथा भगवद्वच प्रतिपाद्यधर्मसम्पर्कमेत्य भव्य-

यया उत्तरोत्तरं गुणवृद्धिमाप्नुवन्ति मुख्यादिफलसम्पद्यश्च भवन्ति। सुष्ठूक्तं 'त्रिवर्गसम्पन्नमनाऽऽरामनुपस्थातुम्' इति। "पालो कुल्या सारणिरि"ति हैमः। श्रीसम्भवजगत्पतेः=भगवतो स्तुपदपर्वनि पाणिकदम्बानामतिरिव जगत्पतिः, श्रिया शङ्खादिलक्षणरूपया संयुक्तः सम्भवनामा तृतीयतीर्थकरः, यस्मिन् गर्भस्थे राज्ये सर्वत्र धान्यादिना समसवरीति पितृभ्यां तदनुसारेण सम्भव इति प्रथम नि य कृत्वाऽभिरूप, स चाऽसौ जगत्पतिश्च तस्य। वाचः=उपदेशवाक्य, वचनानीति वा, जयन्ति-सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। तासां वैशिष्ट्यस्माऽन्यत्राऽभावात्। यदुक्तम्—"नयस्थभूम्य किन्तु तत्रे" इति भाव। एतेन वागतिशय प्रतिपादित, नियमात्पूर्वा-परेऽप्यतिशया प्रतिपादिता बोध्या। यथा वै भवस्यावि-भुतस्या च कल्याणहेतुस्तस्य कल्पनाय इत्यपायाऽपगमाऽतिशय, जगतां परिपूर्णसूक्ष्म एव भवतीति पूजाऽतिशयः, केवलोत्पत्त्यन-न्तरमेवेति देशनासमये ह्यनेन तत्पूर्णमाक्षिपता ज्ञानाऽतिशयश्च प्रति-पादितोऽवगन्तव्यः ॥ ५ ॥

अथ चतुर्थमभिनन्दनजिनं स्तौति

अनेकान्तमताम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं भगवानभिनन्दनः ॥ ६ ॥

अनेकेति । अनेकान्तमताम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः= अनेकऽनन्ता अविरुद्धा सत्त्वजीवत्वादयो विरुद्धा नित्यानित्यत्वसत्त्वसामान्यविशेषाऽभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वमेदाऽभेदादयो धर्मा यस्मि-

पर्यवसिता एकस्मिन्नेव वस्तुनि=अपेक्षाभेदेनाऽविरुद्धतया समावेशा-त्सिद्धान्तविषयीकृता यस्मिंस्तदनेकान्तम्, तच्च तन्मत वादश्चाऽनेकान्तमत स्याद्वाद', यदुक्तम्—"स्यान्नाशि नित्य सदृशं विरूपं वाच्य न वाच्य सदसत्तदेवे"ति "अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्व-मसूपपादमि"ति च । नित्यानित्यत्वादीनामेकस्मिन् समावेशप्रकारश्च मत्कृताऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकीर्तिकलातोऽवसेय । "मृताव-वसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यत" इति विश्व. । तदेव चाऽङ्गोपाङ्गा-द्यतिविस्तृततया नयभङ्गादिकल्लोलमालाऽऽकुलतया मिथ्यात्वमतिदुर-धिगमतया चाऽम्भोधि पारावार इव, तस्य समुल्लासने देशनावाक्च-न्द्रिकाभि समुत्कर्षसमापादने चन्द्रमाश्चन्द्र इव । चन्द्रेण हि समुद्रस्यो-ल्लासन प्रसिद्धम्, तद्वदनेनाऽप्यनेकान्तमतोल्लास इत्युपमा, सा च समुद्रोल्लासनमन्यदनेकान्तमतोल्लासनं चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदरूपा-ऽतिशयोक्त्यनुप्राणिता । चन्द्ररूप इत्यर्थे तु पूर्वत्राऽम्भोधिरूप इत्यर्थो बोध्य । ततश्च परम्परितरूपकाऽलङ्कार । अत्र पक्षे च चन्द्रेण समुद्रस्योल्लासनमुचितमेवेति भाव. । "हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र" इत्यमर. । यद्वा—अनेके, अन्ता अम्यते गम्यते प्रतीयत इत्यन्ता धर्मा विरुद्धा अविरुद्धाश्च, तेषा यन्मतमेकस्मिन्नेव वस्तुन्यपेक्षाभेदेनाऽविरुद्धतया कथञ्चित्समावेशात्स्वीकार, अनेकान्तवाद: स्याद्वादाऽपरपर्याय इत्यपि व्याख्यानम् । शेष पूर्ववत् । अत्र हेतुगर्भमपर विशेषणमाह—

**भगवान्**=प्रशस्तो भूमा च भगो ज्ञानादिरस्त्यस्येति स तादृश. । यदुक्तम्—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य तपस.श्रिय । ज्ञानवैराग्ययो-श्चैव षण्णा भग इतीरणे"ति । प्रशस्तभूमज्ञानादिमतोऽनेकान्तमतसमु-

स्वसने नाऽस्तीति भाव । विशेष्यमाह—अभिनन्दनः=चतुर्थस्तुतीयस्तीर्थङ्करः अस्मिन् गर्भस्थे राज्ये सर्वतोऽप्यानन्दभावात्पितृभ्यां तदनुसारेण कृताऽभिनन्दनाऽभिख्यः, अभिनन्दयतीत्यभिनन्दन इत न्वर्थनामेत्यर्थः । नन्द्यादित्वादन । अमन्द=न मन्दमस्यममन्दमनल्पम्, शाश्वताऽस्खलिततयाऽनन्तमित्यर्थः । अन्याऽऽस्वस्त्वनित्यत्वादिना मन्द एवेति बोध्यम् । आनन्दम्=सुखम्, "स्यादानन्दथुरानन्द शर्म सातसुखानि च"इत्यमर । दयात्=ददातु प्रार्थनायां सप्तमी अत्र प्रार्थनैव सम्भवा न तु प्रेरणेति बोध्यम् । आनन्दप्रदानप्रार्थनेन च तस्याऽन्वर्थनामता व्यज्यते । अत्र शमाऽतिशय प्रतिपादित., इतरेऽप्यतिशया व्याप्तिन्यायेनोपलक्षिता वेदनीया । किञ्चाऽऽनन्दप्रदत्वान्यथाऽनुपपत्त्या तस्य ज्ञानाय इत्यपायाऽपगमाऽतिशय, भगवत्पदेन तु सर्वे एवाऽतिशया प्रतिपादिता बोध्या ॥ ६ ॥

अथ पञ्चमे सुमतिजिने स्तवमाह—

द्युसत्किरीटशाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।
भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥

द्युसदिति । द्युसत्किरीटशाणाग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः=दिवि सीदन्ति इति ते द्युसदः सुरा देवा सेन्द्रास्तेषां किरीटानि मुकुटान्येव कठिनत्वात्तीक्ष्णीकरणयोग्यत्वात् शाणा शस्त्रादितीक्ष्णीकरसाधनकषोपलास्तेषामग्रभागैः कोटिभिरित्यर्थः । उत्तेजिता निरन्तरसंपर्कात्सम्पर्षणवशात्तामपातक्रमेण तीक्ष्णीकृताऽत एव दीप्तिशयसम्पन्ना भीताङ्घ्र्योः पादयोर्नखानामावलिः पङ्क्तिर्यस्य स

तादृशः । देवा हि भगवन्त भक्तिश्रद्धाऽतिशयादतिसान्निध्येन तथा प्रणमन्ति यथा तेषां किरीटाग्राणि भगवदङ्घ्रिनखसङ्गतानि भवन्ति, ततश्च मुहुर्मुहुस्तथासंघट्टनेन नखाना तानव दीप्तिविशेषश्च जायते । शाणाऽग्रे घर्षणेन शस्त्रादीनामुत्तेजन प्रसिद्धमेव । अत्र शस्त्राणामुत्तेजनमन्यन्नखानां चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायमूलाऽतिशयोक्तिजीवित किरीटशाणेतिरूपकम् । "आदितेया दिविषद" इति, "पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामि"ति चाऽमर । अत्र पूजाऽतिशय· प्रतिपादित । "मुकुट पुन । मौलि किरीट कोटीरमुष्णीषमि"ति, "शाणस्तु निकष कष" इति च हैम. । देवकृतप्रणामसमर्थनाय विशेषणान्तरमाह—**भगवान्**=सहजाद्यतिशयाद्यैश्वर्यादिसमन्वितः, **सुमतिस्वामी**=सुशोभना केवलाख्या मतिर्ज्ञान यस्येत्यन्वर्थनामा, अस्मिन् गर्भस्थे मातुः सुमतिभावात्पितृभ्या तदनुसारेण सुमतिरिति कृताऽभिख्यश्च सुमतिनामा पञ्चमस्तीर्थकृत्स चाऽसौ स्वामिवत्पालकत्वात्स्वामी स·, एतेन ज्ञानाऽतिशय. प्रतिपादितः । **वः**= स्तोतॄणा वाचकाना च, **अभिमतानि**=अभीष्टानि, बहुवचनेन सर्वाऽभीष्टप्रदत्व सूच्यते । **तनोतु**=सम्पादयतु । यो ह्यभिमतप्रद· सोऽवश्य स्वय निरपायः स्यादित्यपयाऽपगमाऽतिशयः सूचित. । वागतिशयश्च साहचर्याद् भगवत्पदमहिम्ना च सूचितोऽवगन्तव्यः । तदेवमजितस्वामिस्तुतौ ज्ञानाऽतिशयः सम्भवजिनस्तुतौ वागतिशयोऽभिनन्दनजिनस्तुतावपायाऽपगमाऽतिशय· सुमतिस्वामिस्तुतौ च पूजातिशय. क्रमश· कण्ठरवेण प्रतिपादितोऽवगन्तव्य ॥ ७ ॥

अथ षष्ठं पद्मप्रभजिनं स्तुवन्नाह—

पद्मप्रभप्रभोर्देहभासः पुष्णन्तु वः श्रियम् ।
अन्तरङ्गारिमथने कोपाऽऽटोपादिवाऽरुणाः ॥ ८ ॥

पद्मेति । पद्मप्रभप्रभोः=पद्मस्य कमलस्य प्रभेव प्रभा द्युतिः= अरुणद्युतिर्यस्य स तादृश इत्यन्वर्थनामता सूच्यते । तथाऽस्मिन् गर्भस्थे मातुः पद्मशय्यादोहदमातापितृभ्यां तदनुसारेण पद्मप्रभेति स्वामिन उद्धस्तीर्थङ्कर, स चासौ प्रभवति भव्यविना जगत्स्विति प्रभुरधिपतिः, तस्य, 'प्रभु स्वामिप्रभुत्वाभ्यासःकविपुरुषोत्तम" इति "प्रभु परिवृढोऽधिप" इति चामर । अन्तरङ्गारिमथने=अन्तरङ्गाणीवेत्यन्तरङ्गा, अङ्गानि यथा शरीरान्तःस्थत्वादतिसन्निहितानि तथैवेऽन्तरालसम्बद्धत्वादतिसन्निहिता इत्यन्तरङ्गा अतिसन्निहिता आत्मसम्बद्धा अभ्युत्थानि भेषजपरिपन्थित्वादरयो रिपव इव कर्मकषायादयस्तेषां मथने मूलादुन्मूलने विषये कोपाऽऽटोपादिव=कोपः क्रोधस्तस्य च आटोप आवेशस्तस्मादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । उक्तं च जिनानां कर्मादीनां समुन्मूलने यथा— क्षमो माऽन्य कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलत इति । "कोपक्रोधामर्षरोष" इत्यमर । 'आवेगाऽऽटोपौ संरम्भे' इति हैम । अरुणाः=पद्मप्रभत्वादव्यक्तरागवर्णाः पद्मेण कोकनदच्छविः । "अव्यक्तरागस्त्वरुण" इत्यमरः । वैरिमथनप्रवृत्तानां कोपावेशान्मुखनेत्रादेरारुण्यं प्रसिद्धम् । अस्य तु कोपाटोपाभावेऽपि मा किन्तु स्वाभाविकस्वाभाविकारुण्यस्याभावसूत्प्रेक्षा । क्रियान्वयमाह—देहभासः=शरीरप्रभाः, वः=युष्माकमन्येषां च,

**शिवम्**=भद्रम्, **पुष्णन्तु**=परोत्कर्षमानयन्तु, पद्मप्रभप्रभोर्दर्शने तादृश्यस्तद्देहभासो मनोज्ञत्वादर्हत्यनुरागविशेप जनयन्ति, अर्हद्भक्त्यादिना च शिवपोषः प्रसिद्ध एवेति भावः। अत्र कोपादन्तरङ्गारिमथने आरुण्यस्य कोपहेतूत्प्रेक्षा न सङ्गच्छते। यो हि यं मथ्नाति स तस्य प्रभुरिति तस्य तेन प्रभावितत्वोत्प्रेक्षा न मनः प्रीणयत्यनुचितत्वात्। किञ्च कोपान्मुखनेत्रादीनामेवाऽरुणिमा प्रसिद्धो न तु देहस्येति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥ ८ ॥

अथ सप्तम सुपार्श्वजिनं स्तुवन्नाह—

**श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।**
**नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥**

श्रीसुपार्श्वेति। **चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते**=चत्वारो वर्णा. प्रकारा साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपा यस्मिन् स तादृशश्चाऽसौ सङ्घश्च स साध्वादीना बहुसङ्ख्यकत्वान्महत्त्वाद् गगनस्याऽऽकाशस्याऽऽभोगो विस्तारस्तस्य भास्वानिव प्रकाशेनेव ज्ञानेन तमोनाशकत्वाद् भास्वान्, तस्मै। "प्रपञ्चाऽऽभोगविस्तारव्यासा" इति हैमः। एतेन सङ्घस्याऽतिविस्तृतत्वं भगवत सूर्यस्येव तमोनाशनेऽप्रतिमत्व च ध्वन्यते। यथा सूर्यः स्वप्रचण्डप्रकाशेन गगनस्थमन्धतमसमपि सद्य एव नाशयति, तथाऽय जिनोऽप्यतिशयवत्या वाचा सज्ज्ञानप्रदानादिनाऽज्ञान दूरीकरोतीति भाव.। तदेव ज्ञानाऽतिशयो वागतिशयश्च प्रतिपादितोऽवगन्तव्यः। अत एव, **महेन्द्रमहिताङ्घ्रये**=महान्त प्रतापादिभिरन्यापेक्षयोत्तमा ये इन्द्रा देवासुरनरेन्द्रास्तैर्महितौ पूजितावङ्घ्री

चरणौ यस्य स तादृशस्तस्मै, महेन्द्रपूजितचरणाय । यो हि ज्ञान-विज्ञानज्ञानादिमान् स एव महेन्द्रपूजितो भवति । यदुक्तम् "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" इति भावः । अत्र पूजाऽतिशयः प्रतिपादितः । "पदद्वयमिदमग्रेऽभिधास्यामि" स्मर । विशेष्यमाह—श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय=सुपार्श्वे=यस्मिन् गर्भस्थे सति स्वप्ने पार्श्वे सर्पशय्यां दृष्टवतीति जनन्या सुपार्श्वमभ्यासित्मन्या तदनु-सारेण सुपार्श्व इति कृताऽभिधानः, स चाऽसौ भगवान् रागादीनिति जिनास्तेषु देवेष्विन्द्र इव श्रेष्ठः जिनाऽतिशयातिशयतया युक्तश्चाऽसौ श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्रस्तस्मै । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशयो ध्वनितः, यो हि रागादिविजेता तस्य नाऽपायलेशोऽपि । नमः=नमस्कारः अस्त्विति शेषः । 'यत्राऽन्यत्क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते" इति हि महाभाष्यम् । अथोपमाऽलङ्कारः ॥ ९ ॥

अथाऽष्टमं चन्द्रप्रभजिनं स्तुवन्नाह—

चन्द्रप्रभप्रभोश्चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला ।
मूर्तिर्मूर्तसितध्याननिर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

चन्द्रप्रभेति । चन्द्रप्रभप्रभोः = चन्द्रस्य प्रभा कान्तिरिव प्रभा यस्य स इत्यन्वर्थनामा यस्मिन् गर्भस्थे मातुश्चन्द्रपानदोहदमासीदि-त्यतो तदनुसारेण चन्द्रप्रभेति कृताऽभिधानः, स चाऽसौ प्रभुः स्वपदे स्थितिना पालकत्वात्कुमतैर्निरसनाच्च स्वामी तस्य, मूर्तसितध्याननिर्मितेव =मूर्तं रूपि सितं शुक्लं च यद्ध्यानं शुक्लध्यानमिति प्रसिद्धं तेन निर्मिता घटितेवेत्युत्प्रेक्षा । ध्यानं न मूर्तम् किन्तु निर्मापनिर्वाहस्य तन्मूर्तता

मापन्नतयोत्प्रेक्षितम् । कथमन्यथा शुक्लध्यानवह्निरञ्जनत्वं तन्मूर्तेरिति भाव । ध्याननिर्मितत्वोत्प्रेक्षया च सर्वविधभावाऽतिशय॰ प्रतिपादितोऽवगन्तव्य. । सम्प्रत्यन्वर्थनामत्वायाऽऽह— **चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला**=चन्द्रस्य मरीचीना किरणाना निचय॰ पुञ्ज इवोज्ज्वला शुभ्रा, चन्द्रकिरणपुञ्जवत्सिता निर्मलाऽऽह्लादिनी चेत्यर्थ । अत्र च शरीरद्युतिवर्णनेन सर्वविध शारीरोऽतिशय उपलक्षणत्वात्सूचितो बोध्यः । सा केत्यपेक्षायामाह— **मूर्त्तिः**=तनुर्बिम्ब वा, **वः**=युष्माक स्तोतॄणाम्, **श्रिये**=सम्पदे, **अस्तु**=भूयात् । "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्रीरिव दृश्यत" इत्यमर । उत्प्रेक्षोपमयो ससृष्टिः । यः स्वय बाह्याऽऽभ्यन्तरश्रीसम्पन्न, स एवाऽन्यस्याऽपि श्रिये भवितुमर्हति, नहि स्वयमसिद्ध॰ परान् साधयतीति भाव॰ ॥ १० ॥

अथ नवम सुविधिजिन स्तुवन्नाह—

**करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।**
**अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥११॥**

करामलकवदिति । **केवलश्रिया**=केवल केवलज्ञान तस्य श्रिया जगत्पदार्थसार्थपरिच्छेदप्रगुणया सम्पदा, केवलज्ञानमेव श्रीरतिशयस्तया वा, अथ च केवलाऽऽत्मस्वभावात्मकत्वान्निरुपाधिकत्वाच्छुद्धाऽद्वितीयाऽसहाया च या श्रीश्चिद्रूपा सम्पत्ति. केवलज्ञान तया, **विश्वम्**=अतीताऽनागतवर्तमानसर्वद्रव्यपर्यायविशिष्ट चराचरात्मक जगत् । **करामलकवत्**=करो हस्तस्तस्य तत्स्थत्वात्तत्सम्बन्धि यदामलकमामलक्या धाञ्या. फल तद्वत्, **कलयन्**=पश्यन् जानन् वा, यथा हि करस्थमा-

मस्तके सुकरतया सर्वथा परिच्छिद्यते तथा भगवता केवलज्ञानमिथा सिद्धमित्यर्थः । ज्ञानावरणादिघातिकर्मणां साकल्येन क्षय एव केवलो त्पत्तेर्वस्तुसर्वांशविषयकं तज्ज्ञानमितिभावः । एतेन ज्ञानातिशयः स्फुट एव प्रतिपादितः । कल्पतरुरिव ज्ञानार्थ., कल्पलतेव कामधेनुः । अत एव, अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः = अचिन्त्यस्याऽगम्यस्य मनसोऽप्यविषय-स्येत्यर्थः । यदि चिन्ताऽतीतं वागगोचरातीतमिति किन्तु अचिन्त्यमितिभावः । तादृशस्य माहात्म्यस्य महिम्नो निधिराकर., किमिव. परं माहात्म्यं प्रत्येकस्तुत ज्ञानेन सिद्धकल्पनम् । तत्र धर्मचक्षुषां चिन्तयस्थितमप्यशक्यम् । तादृश-सामर्थ्य एवाऽसम्भाव्यस्पर्शेन स्वाभाविकोऽयोग्यतादिभावः । एता-वानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुष इति श्रुतम् । अन्वीक्षितक इति विशेष्याकाङ्क्षापूरणाय — सुविधिः=सुविधिरित्यभिधेये भगम-सौरीश्वर अस्मिन् गर्भस्थे मातुः सर्वविधिषु नैपुण्यादिगुण्यं तदनु-सारेण सुविधिरितिकृत्वाभिख्य पुष्पदोहदेन दन्तोद्गमाच पुष्पदन्तेत्य-परनामा सुशोभन सकलेशमदलाभिरपायतया मनोज्ञो विधिर्मुख्यत्वादि साधनमनुष्ठानं यस्य प्रतिपादनसम्बन्धेन भवत्सम्बन्धीरमणत्वनामा च, वः= युष्माकम् बोधये=परमार्थज्ञानाय अस्तु=भवतु । यो हि परमार्थस्य सर्वज्ञस्यैव बोधिदानेऽधिकारात् । यदुक्तम्—“ गुरवो सन्ति बोधेति शिष्यसारम्येन मानता । भारमदत्त्वमपनोद्य साधकेभ्यो गुरूत्तम ” इति । देशेन कालेन च व्यवहितोऽपि पदार्थसार्थो भगवतः करस्थाऽऽमल-कमसुरस इव परिच्छेद्योऽभवदेवमस्याऽऽत्मीयमहिमा, नैतादृशमहिमाऽन्यस्य कस्याऽपीति तस्याऽलौकिकमाहात्म्यविशिष्टत्वात् एव बोधः सम्भवति नाऽन्यस्मादनीदृशादितिभावः ॥ ११ ॥

अथ दशमं शीतलजिनं स्तुवन्नाह—

**सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽम्बुदः ।**
**स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलः पातु वो जिनः ॥१२॥**

सत्त्वानामित्यादि । **सत्त्वानाम्**=जीवानाम्, **परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽम्बुदः**=परमः शाश्वताऽखण्डत्वात्सर्वोत्कृष्टो य आनन्दः सुखमयत्वम्, स एव कन्दः पृथिव्यामिवाऽऽत्मनि सावरणः स्वभावत एव स्थितत्वादङ्कुरमूलविशेष इव, तस्योद्भेदोऽनुभवात्मकाऽङ्कुरोद्गमस्तस्य तत्सहकारित्वात्तत्सम्बन्धी नवाम्बुदो नूतनजलधर इव । वर्षर्तौ नूतनजलधरेण हि तद्वृष्टसलिलसम्पर्कात्कन्दादङ्कुरोद्गमः प्रसिद्धः, जिनेनाऽपि च प्रवचनादिना तत्पालनादिरूपसम्पर्कवशान्मुक्त्याद्यात्मकपरमसुखोद्गम इति भावः । ननु न नवाम्बुदसत्तामात्रेण कन्दोद्भेदः, किन्तु तद्वृष्टसलिलसम्पर्कादिनेति कथन्तान्निवृत्तये–विशेषणमाह— **स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी**=स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततश्च स्याद्वादोऽनेकान्तवादः, एकस्मिन्नेव धर्मिणि विरुद्धसामान्यविशेषनित्याऽनित्याऽभिलाप्यानभिलाप्यसदसत्त्वभेदाऽभेदाद्यनन्तधर्मस्वीकारः । स एव वस्तुयाथात्म्यप्रतिपादकत्वादज्ञानात्मकविषमविषप्रमोषप्रगुणत्वादानन्दकन्दोद्भेदप्रयोजकत्वाच्चाऽमृतं पीयूषं पयश्च, तन्निःस्यन्दते उपदेशादिना वर्षणेन च सिञ्चतीत्येवंशीलः, स्याद्वादात्मकाऽमृतसेचक इत्यर्थः । "पीयूषममृतं सुधे"ति "पयःकीलालममृतमि"ति चाऽमरः । न चेदृश कोऽपि साधारणो जन इत्याह—**जिनः**=वीतरागः, एतेनाऽलौकिकाऽतिशयसामग्री सूचिता, वीतराग एव हि सकलाऽलौकिकाऽतिशयसम्पन्न इति तस्य तादृश-

स्याऽऽनन्दकन्दाग्रेदनममृतनिःस्यन्दनं च नाऽतिवर्तीति भाव । अतै- वाकथाऽनुक्रमनिर्देशत्वया विशेषणारकत्वं व्यज्यते । स च इति विशेष्याऽपेक्षायामाह—शीतलः=शीतं भावमधानत्वाच्छ्रैत्यं स्मर्ति सदुप- देशादिना भवतापाऽपहरणमुखेन सम्पादयतीत्यन्वर्थनामा अस्मिन् गणस्थे मधुराक्षरसद्यासितुत्रापाऽध्याराधनानुसारेण शिशूनां शीतल इति कृताऽभिख्यश्च दशमतीर्थङ्करः, वः=युष्मान्, पातु=रक्ष्यात्, अपा- यादिस्वर्णककालम्यत । शाश्वत एव रक्षको भवितुमर्हतीति भाऽन्यारक्ष, तस्य स्वयमसिद्धत्वादिति हृदयम् । आनन्दोद्भेदश्चाऽन्य कन्दोभेद श्चाऽन्य इति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिप्रेरिताऽनूतेति श्लेषाऽनुप्राणितोपमाऽलङ्कारोऽत्र बोध्य ॥ १२ ॥

अथैकादशं श्रेयांसजिनं स्तुवन्नाह—

भवरोगार्तजन्तूनामगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

भवरोगेति । भवरोगार्तजन्तूनाम्=भवत्युत्पद्यते जन्तुरस्मिन्निति भवश्चतुर्गतिक संसार स एव रुजत्वनेन कृत्वा जीव इति रोग आध्यात्मिकाऽऽधिदैविकाऽऽधिभौतिककायिकवाचिकमानसिकजन्मादिकोपादि ज्वरादिपीडानिमित्तभावात् । एकान्तेन रोगनिमित्तत्वप्रतिपादनाय कार्ये कारणोपचाराद्वा भव एव रोग आध्यात्मिकादिपीडा, भवे हि तेषा- माध्यात्मिकादिषु स्थानामवश्यम्भावात् । यस्य हि न भवस्तस्य न रोग इति रोगा भवनिमित्त एव । यद्वा भवो जन्म, तत्सम्बन्धात्सम्बन्धी यो रोगस्तेनाऽऽर्ता भृशं पीडिता व्याकुला व्यसातमनुभवन्तो ये जन्तव.

प्राणिनस्तेषाम् भवात्मकरोगपराभूताना प्राणिनामित्यर्थ. । **अगदङ्कार-दर्शनः**=गदो रोगः, "रोगव्याधिगदाऽऽमया" इत्यमर. । न गदो यस्य सोऽगदस्त तादृश करोतीत्यगदङ्कारो भिषक्, योगमहिम्ना रोगाऽप-हारकत्वात्तद्रूप दर्शन प्रतिबिम्बाद्यवलोकन शासन स्याद्वादाख्य दर्शनं वा यस्य स तादृश, भवरोगाऽपहारकदर्शन इत्यर्थ । वैद्येन कृत्वा रोगस्येव जिनप्रतिमादिदर्शनतस्तच्छासनाऽऽराधनादिना च पापविशुद्धे-र्गुणवृद्धया भवस्योच्छेदात् । यदुक्तम् 'इत्याज्ञाराधनपरा अनन्ता परिनिर्वृताः । निर्वान्ति चाऽन्ये क्वचन निर्वास्यन्ति तथाऽपरे" इति, "भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्व मयैकस्तेषु तारक" इति चेति भाव· । तदुपपादक विशेषणमाह—**निःश्रेयसश्रीरमणः** = निश्चितमेकान्तेन श्रेय.शर्म न तु कथञ्चिदपि दु.खसम्भिन्नमिति नि श्रेयस मुक्तिस्तस्य तद्रूपा वा या श्री सम्पच्छाश्वताऽखण्डानन्दस्तस्य रमते इति रमण, मुक्तयात्म-कशाश्वताऽखण्डाऽऽनन्दमग्न., स क इत्यपेक्षायामाह—**श्रेयांसः**=तदाख्य एकादशस्तीर्थङ्कर, अस्मिन् गर्भस्थे जनपदे सर्वथा श्रेयोभावात् श्रवण-नक्षत्रे जन्मभावाच्च तदनुसारेण पितृभ्या श्रेयास इति कृताऽभिख्य, **वः**=युष्माकम्, **श्रेयसे**=कल्याणाय, यत्प्रशस्यतम तत्सिद्धये इत्यर्थ । **अस्तु**=भवत्विति प्रार्थये । प्रशस्यतमश्च भवरोगवियोग इति तादृश-विशेषणोपादानेन भङ्ग्या सूचित । यद्वा भवरोगाऽपहारान्मुक्त्याख्य-श्रेय प्राप्तिरेवेति - भवरोगोच्छेदकत्वान्मुक्तयेऽस्तु । भवरोगोच्छेदकस्य स्वयसिद्धस्य मुक्तये प्रभुतोचितैवेति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार, स च नि श्रेयसश्रीरमण इति श्रीतिस्त्रीलिङ्गसाम्याद्रमण इति श्लेषाच्च स्त्रिया रमण इवेति समासोक्तिसंसृष्ट । तेन च यथा पति स्त्रिय तथाऽय

मुक्तिं यथेप्सुपमेतुं मनुरिति तस्य कल्याणभवनसामग्रीसाफल्य-मुखम् ॥ १३ ॥

अथ द्वादशं वासुपूज्यजिनं स्तुवन्नाह—

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैः पूज्यो वासुपूज्य पुनातु वः ॥ १४ ॥

विश्वोपकारकीति । विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः= न विश्वस्योपकारकं विश्वस्योपकारकं सम्पद्यमानमिति विश्वोपकारकीभूतं यत् तीर्थकृत्तीर्थङ्करस्य कर्म तीर्थङ्करनामकर्म । तीर्थङ्करनामकर्मणो हि भगव नान्तरेण विश्वोपकारः परिणाम इति स्वभावादेव तद्विश्वोपकारविपाकमित्यतो विश्वोपकारकीभूतमिति बोध्यम् । तादृशस्य तस्य निर्मितिर्निर्माणं यस्य स तादृश इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः । येन विश्वोपकारकीभूततीर्थ-कृन्नामकर्मोपार्जितं स इत्यर्थः, समुपार्जितसमुत्कृष्टकर्मेति परमम् । एतेन तीर्थकृतो निष्कारणविश्ववत्सलत्वं व्यज्यते । कर्मण एव तथाविपाकत्वेन कारणान्तराऽनपेक्षणादिति बोध्यम् । अत एव सुरासुरनरैः=सुराश्चाऽ-सुराश्च नराश्चेत्यसमस्तास्तैर्बोध्याः, तैः पूज्यो=नमस्यः । यदुक्तम् जगत्पतेस्तव । तथा यान्ति पक्षिणोऽपि प्रदक्षिणम्' इति, ' तव त्रिलो-कानि पीता इवोद्गीर्णे संगैरपी' इति च । यो हि निष्कारणं विश्वोपकार-कस्तस्य विश्वपूज्यतोचितैवेति भावः । विश्वोपकारकत्वे विश्वपूज्यत्वेति निष्कर्षोऽर्थः । यदुक्तम्– 'सर्वे येनेशमूस्पन्त समूला क्लेशपादपाः । मूर्धा यस्मै नमस्यन्ति सुरासुरनरेश्वराः" इति । विशेष्यमाह—वासु पूज्यः=तन्नाम्नो द्वादशतीर्थकरो वासुपूज्यनृपात्मजः । वः=युष्मान्,

पुनातु=शुचीकरोतु, तीर्थङ्करेण हि सदुपदेशाद्यात्मकोपकारादिना सन्मार्ग-प्रदर्शनात्तदाराधनेन कृत्वा कर्ममलाऽपकर्षणाज्जीवाना शुचित्वसम्पत्तिरिति वासुपूज्य पुनात्वित्युक्तमित्यवगन्तव्यम् । यो हि विश्वोपकारको विश्व-पूज्यस्ततो विश्वपवित्रीकरणाऽऽशोचितैवेति ध्येयम् ॥ १४ ॥

अथ त्रयोदश विमलजिन स्तुवन्नाह—

**विमलस्वामिनो वाच कतकक्षोदसोदराः ।**
**जयन्ति त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतव ॥ १५ ॥**

विमलेति । **विमलस्वामिनः**=तदाख्यस्य त्रयोदशतीर्थङ्करस्य, अस्मिन् गर्भस्थे जनन्या नैर्मल्यभावात्तदनुसारेण पितृभ्या विमलेति कृताऽभिख्यस्य, विगत मल यस्मात्तादृशस्य वीतरागस्येत्यन्वर्थता च ध्वन्यते । एतेनाऽपायाऽपगमाऽतिशय प्रतिपादित । तत्सहचारित्वाच्च ज्ञानाऽतिशय. पूजातिशयश्च स्वयमूह्य. । वचनाऽतिशयमाह—**कतक-क्षोदसोदराः**=कतक तदाख्यो जलशोधको द्रव्यविशेष , कतकाख्य-तरुफल वा । तस्य क्षोदश्चूर्णम् , तस्य सोदर —सोदरो हि सदृशो भवतीत्यतिसादृश्यप्रतीतिप्रयोजनया लक्षणया सदृश्य इत्यर्थ ! सादृश्य समर्थयस्तादृश विशेषणमाह—**त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः**=त्रयाणा जगता तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यन्यायाज्जगत्त्रयस्थितप्राणिना चेतासि मनासि सलिलानि जलानीव कषायादिरूपमलादिकलुषितानि, तेषा नैर्मल्यस्य निष्कलुषत्वस्य हेतवो निमित्तभूता । जलानां कतकक्षोदा इव त्रिजग-ज्जनमनसा कालुष्याऽपाकरणेन कृत्वा शुचित्वसम्पादिका इत्यर्थ विशेष्यमाह—**वाचः**=देशनावाण्य , कतकक्षोदक्षेपेण कलुष जल-

ममाधिकं भाग्य इति प्रसिद्धम्। तथा भगवत्पूजनाऽऽराधनेन कृतो रागादिमलक्षयोऽपेक्षतो विशुद्धिमापत इति भावः। अत एव, जयन्ति= सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। भक्तीमयाधाऽनीरमत्वादिति भावः। एतेन वचनाऽविषयो व्यक्तमेव प्रतिपादितः। उपमाऽलङ्कारः ॥ १५ ॥

अथ चतुर्दशमनन्तजिनं स्तुवन्नाह—

स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा।
अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥

स्वयम्भूरमणेति। अनन्तजित् = चतुर्दशस्तीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे पित्राऽनन्तं रत्नदाम दृष्टमिति तदनुसारेण पित्रा ममानन्तजिदिति कृताऽभिख्योऽनन्तज्ञानादिसमन्वितत्वादनन्तं ज्ञानादिकं जयति स्ववशीकरोतीत्यनन्तजिदिति सार्थकनामा, स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा=स्वयम्भूरमणं नामकमपरं सर्वसागरान्तिमत्वादस्याऽसङ्ख्येयद्वीपसमुद्रविस्तारसागरमनं स्पर्धते स्वपरिमाणेन परामवितुमिच्छतीत्येवंशीलं स्वयम्भूरमणाख्यसागरसङ्ख्याऽपेक्षयाऽप्यधिकपरिमाणं करुणया परतु स महार्णवच्छा, तदास्य रसवारि स्वादुसलिलम्, करुणारूपो रस एव वारीति वा तेन कृत्वा, निःसीमकारुण्यमेतत्। एतेन भगवान् करुणासमुद्र इति भण्यते। यद्वा करुणारसवारिणा कृत्वा स्वयम्भूरमणस्पर्धी अनन्तजिदित्यन्वयः। स्वयम्भूरमणसमुद्रपरिमाणाऽपेक्षयाऽप्यधिकपरिमाणकरुणारसवारिपूर्ण इति समुदायपरमार्थः। अत एव, वः = युष्माकम्, अनन्ताम्=शाश्वतीमनन्तां सर्वकर्मपरिक्षयोपलब्धाम्, सुखश्रियम्= सुखस्य श्रीः समृद्धिस्ताम् अविनश्वरसुखसम्पदमिति समुदायार्थः।

प्रयच्छतु=वितरत्विति प्रार्थये। यो ह्यनन्तकरुणापूर्णोऽनन्तजिच्च, तत एवाऽनन्तसुखलाभसम्भवः, यदुक्तम्—"पूर्णात्पूर्णमुदच्यत" इति भाव। उपमानादुपमेयस्याऽऽधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकाऽलङ्कार.॥ १६॥

अथ पञ्चदश धर्मनाथजिन स्तुवन्नाह—

**कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम्।**
**चतुर्धा धर्मदेष्टार धर्मनाथमुपास्महे॥ १७॥**

कल्पद्रुमेति। **शरीरिणाम्**=प्राणिनाम्, "प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिण" इत्यमर। **इष्टप्राप्तौ**=इष्टस्याऽभिलषितार्थस्य प्राप्तौ लाभे, **कल्पद्रुमसधर्माणम्**=कल्पद्रुमस्य, समानो धर्मो यस्य स सधर्मा सदृशस्त तादृशम्, कल्पवृक्षवदिष्टप्रदमिति मिलितार्थ। तत्र हेतुगर्भ विशेषणमाह—**चतुर्धाधर्मदेष्टारम्**=चतुर्धा दानशीलतपोभावभेदाच्चतुर्विधो यो धर्म उपलक्षणत्वात्तत्सञ्चयहेतुरनुष्ठानादि॰, कारणे कार्योपचाराद्दानक्रियादिरपि धर्म। त दिशत्युपदिशतीति स तादृशस्तम्। चतुर्धाधर्माऽऽराधनेन प्राणिना सकलेष्टसिद्धि, इष्टो हि धर्म एव तेषाम्। तल्लाभे चैष एव कल्पतरु, अन्यत्र प्रयस्याऽपि स दुरापश्चेति भाव। विशेष्यमाह—**धर्मनाथम्**=तदाख्य पञ्चदश तीर्थङ्करम्, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्धर्मक्रियादोहदभावात्तदनुसारेण पितृभ्या धर्मनाथेति कृताऽभिख्यम्, चतुर्धा धर्मदेशकत्वाद्धर्मस्य नाथ इत्येवमन्वर्थाऽभिधम्, **उपास्महे**=भजामहे। धर्माऽभीप्सूना धर्मदेष्टा धर्मनाथ एव शरणमिति भाव॥ १७॥

अथ षोडशं शान्तिजिनं स्तुवन्नाह—

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः ।
मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

सुधेत्यादि । सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः= सुधाऽमृतं तस्यास्तृप्तिप्रदत्वान्मुक्तिमार्गादिप्रतिपादनेन कृत्वाऽमरत्व-प्रदत्वाद्दुर्लभत्वाच्च सोदरा सदृशी या वाग् देशनावाण्येव सुधासम्बन्धेन निर्मलीकरणात्मना च तादात्म्याज्ज्योत्स्ना चन्द्रिका, "चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना" इत्यमरः । तया कृत्वा निर्मलीकृतानि कर्मक्षयोपशम-प्रदर्शनेन कृत्वा कर्ममलरहितानि तमोगुणप्राबल्यतमसोऽभावाच्च प्रसन्नानि कृतानि दिशां ककुभां मुखानि मुखावयवाः सितत्वात्पुरोभागा तात्स्थ्यात्तच्छब्दबोध्यत्वाद्दिगन्तवासिनः प्राणिनश्च येन स तादृशः । "दिशस्तु ककुभः काष्ठा" इत्यमरः । ज्योत्स्नाभि र्हि दिशो निर्मली-करणमुचितमेव । यथा ज्योत्स्नाभिर्दिगन्तपर्यन्तं प्रकाश्यते तथा वाचा सर्वे भावात्मना प्रकाश्यन्ते । प्रकाशेनेव ज्ञानेन तमसोऽज्ञानस्य समुन्मूलनादिति तात्पर्यम् । एतेन तमःशान्तिसाम्यमीसाकल्यमुक्तम् । अत एव कर्मनौल्यात्साधर्म्यात् मृगलक्ष्मा=मृगो हरिणः स एव लक्ष्म लाञ्छनं यस्य स तादृशो हरिणलाञ्छनश्चन्द्ररूपश्च । शान्ति जिनस्य मृगो लाञ्छनमिति प्रसिद्धमेव । हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः ... मौर्मृगाङ्क कलानिधिरि ति "कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इ ति चामरः । विशेष्यमाह—शान्तिनाथजिनः=शान्ति-रस्त्यस्य षोडशतीर्थङ्कर अस्मिन् गम्ये लोके सर्वोपद्रवशान्ति

र्जतेति पितृभ्यां तदनुसारेण शान्तिरिति कृताऽभिख्य शम्यादित्या-शास्यमानः, स एव सन्मार्गोपदेशादिना पालकत्वान्नाथ इव नाथ. स्वामी, स चाऽसौ जयति रागादीनिति जिनः, स तादृश । वः=युष्माकम्, तमःशान्त्यै=तमसोऽन्धकारस्य वस्तुयाथात्म्याऽवबोधप्रतिपन्थित्वसा-धर्म्यादुपचारादज्ञानस्य च शान्त्या उपशमाय, तमोनाशायेत्यर्थः। प्रबोध-प्रकाशायेति यावत् । अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । यो हि शान्तिनाथ-स्तत एव तम शान्तिप्रार्थनमनुगुणम् । ज्योत्स्नाद्योतितदिङ्मुखश्च मृगलक्ष्मा तम शान्त्यै भवत्येवेति शान्तनाथस्तुतिरवश्यफलप्रदेति ध्वन्यते । परम्परितरूपकाऽलङ्कारस्तस्य चोपमाऽङ्गम् ॥ १८ ॥

अथ सप्तदश कुन्थुजिनं स्तुवन्नाह—

**श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभि ।**
**सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु व श्रिये ॥ १९ ॥**

श्रीकुन्थुनाथ इति । सुरासुरनृनाथानाम्=सुराश्चाऽसुराश्च नरश्च तथा तेषामेव नाथाश्च, यद्यपि सुरादिनाथा अपि सुरादय एवेति पृथङ्नाथोक्तिर्गतार्था, तथापि ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन पृथगुक्तिर्बोध्या। सुरनाथादिनाथश्च जगन्नाथ एवेति तिर्यगाद्यनुक्तेर्न न्यूनता । सुरादीन् विहाय तन्नाथानामेव तात्पर्यविषयत्वे च न्यूनता समापद्यत एव, नहि सुरादिनाथनाथ एव कोऽपि न तु सुरादिनाथ इति युक्तिमत् । यद्वा य सुरादिनाथनाथ स सुरादिनाथ सुतरामिति यथेष्ट व्याख्येय न काऽपि निर्बन्ध । तेषा देवदानवमानवेन्द्राणाम् । एकनाथः=एको द्वितीयस्य तादृगस्याऽभावादेकमात्र स्वयमनाथत्वाच्च प्रधानं च नाथ.

श्रीसम्पन्नत्वादिना स्वामीव स तादृशः सर्वजनानाम् इति निष्कर्षः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह — अतिशयर्द्धिभिः=अतिशेते लोकानेभिरित्यतिशया अलौकिकाऽनितरसाधारणगुणा प्रसिद्धा सहजाद्यतिशय, तस्य ऋद्धयोऽतिविपुलत्वम् । यदुक्तम् — 'स्वामिन् ! सहस्रजिह्वोऽपि शक्तो वक्तुं न ते गुणान्' इति । अतिशया एव ऋद्धयः सम्पत् इति या ताभिः कृत्वा सनाथः=समन्वितः लोकेऽपि हि सुरादिनाथोऽन्यापेक्षया कतिपयाऽतिशयसम्पन्नो भवति अयं त्वतिशयर्द्धिभिः सनाथ इति सुरासुरनृनाथानामेकनाथो भवत्येवेति भावः । अत एव भगवान्=भग ऐश्वर्यादिसद्वान्, भगस्तत्मूलैश्वर्यादिसमग्र इत्यर्थः । "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणे" इत्युक्तरिति बोध्यम् । विशेषणमाह — श्रीकुन्थुनाथः=श्रीसमन्वितः कुन्थुनामेत्यास्य सप्तदशतीर्थङ्कर, अस्मिन् गर्भस्थे सति माता कुन्थुनामकरत्नराशिदर्शनात्तदनुसारेण पितृभ्यां कुन्थुनाथेति कृताऽभिधास्य वः=युष्माकम्, श्रिये=ज्ञानादिसम्पदे अस्तु=भवत्विति प्रार्थये । अ. सर्वश्रीसम्पन्नः स एव श्रिये भवितुमर्हतीति भावः ॥ १९ ॥

अथाऽष्टादशमरनाथजिनं स्तुवन्नाह—

अरनाथः स भगवांश्चतुर्थाऽरनभोरविः ।
चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासं वितनोतु वः ॥ २० ॥

अरनाथ इति । सः=जगति चतुर्थपुरुषार्थप्रदत्वेन ख्यातः, चतुर्थाऽरनभोरविः=चतुर्थो द्वादशारे कालचक्रे तुरीयो योऽरस्तत्-

स्याऽर इव भाग इत्यर इति ख्यातश्चतुर्थोंऽशो दु षमसुषमाऽरः, स एवाररविणाऽधिष्ठीयमानत्वाज्ज्ञानादिप्रभया प्रकाश्यमानत्वाच्च नभो गगनम्, "नभोऽन्तरीक्ष गगनमि"त्यमर.। तस्य तत्प्रकाशकत्वात्तदधिष्ठानत्वाच्च तत्सम्बन्धी रवि प्रकाशकत्वादिसाधर्म्याद्रविरूप·। सूर्यो यथा गगने सर्वताराग्रहाद्युत्कृष्ट सर्वलोकप्रकाशकश्च, तथाऽरनाथोऽपि चतुर्थारे सर्वोत्कृष्ट सर्वप्राणिप्रबोधोद्बोधकश्चेति भाव.। कुत इत्याकाङ्क्षानिवृत्तये आह—**भगवान्**=ऐश्वर्यादिरूपभगसम्पन्न, यो हि भगवान् स लोकोत्तमो भवत्येवेति हृदयम्। अत एव, **सः**=सर्वजगत्ख्यात, विशेष्यमाह—**अरनाथः**=तदाख्योऽष्टादशस्तीर्थङ्कर·, अस्मिन् गर्भस्थे मात्रा स्वप्ने चक्रारदर्शनात्पितृभ्या तदनुसारेणाऽर इति कृताऽभिख्य:, **वः**=युष्माकम्, **चतुर्थपुरुषार्थश्रीविलासम्**=चतुर्थो य. पुरुषस्याऽर्थ. प्रयोजनं धर्माऽर्थकाममोक्षेष्वन्त्यो मोक्षनामा पुरुषार्थस्तस्य या श्री शाश्वताऽखण्डानन्दादिलक्ष्मी., अथवा तद्रूपा या श्रीस्तस्या विलास प्राकट्येन सान्निध्यम्, तम्, **वितनोतु**=उपदेशादिना सज्ज्ञानप्रदानेन कृत्वा सम्पादयतु। चतुर्थस्यस्य चतुर्थप्रदत्वमनुगुणमेव। किं च स एव चतुर्थपुरुषार्थप्रद, यदुक्तम्—"जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतय प्रवादिनाम्। त्वदेकनिष्ठे भगवन्! भवक्षयक्षेमोपदेशे तु पर तपस्विन·" इति भाव.। परम्परितरूपकाऽलङ्कार.॥ २०॥

अथैकोनविंश मल्लिजिनं स्तुवन्नाह—

**सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम्।**
**कर्मद्रून्मूलने हस्तिमल्लं मल्लिमभिष्टुम ॥ २१ ॥**

सुरासुरेति—सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम्=सुराश्चासुराश्च नराश्च तेषामेवाऽधीशा इन्द्राश्च सुरासुरनराधीशा एव मयूरा बर्हिणः, "मयूरो बर्हिणो बर्ही शुक्लापाङ्ग शिखावल" इत्यमरः । तेषां नवो-ऽपूर्वः, इतरविलक्षणहर्षप्रदत्वादितिभावः । स चासौ ज्ञानादिसम्पत्ति मधुरतरसलिलसम्भृतत्वान्नव्यश्च वारिदो मेघस्तद्रूप इत्यर्थः । मयूरो हि प्रथमं सलिलसम्भृतमुन्नतं वारिदं दृष्ट्वा हृष्यति केकारवं करोति नृत्यति च । सुरादयश्चाऽपि भक्तिभिर्नं दृष्ट्वा हृष्यन्ति जयजयारवं कुर्वन्ति नृत्यादि च कुर्वन्ति । तस्य हि शास्त्रीयमिति सुपूर्वं मयूरनववारिद मिति । सुरादिमयूरनववारिदत्वे हेतुगर्भं विशेषणमाह—कर्मद्रुमुन्मूलने =कर्माण्येव द्रव्यद्रुमस्य ज्ञानावरणादिनानाप्रशाखासमवत्त्वात् दुर्निवेध्य-ऽनिष्टफलत्वाच्च द्रुमो द्रुमास्तेषां ज्ञानचारित्रादिना स्वकीयानां परकीयानां च सन्मार्गोपदेशादिनाऽन्मूलने मूलमुत्पाटने विषये, विनाशन इत्यर्थः । हस्तिमल्लम्=ऐरावणाख्यं गजेन्द्रम्, तद्रूपमित्यर्थः । गजेन्द्रस्य हि द्रुमोत्पाटनं प्रसिद्धमेव । एतेन कर्मनाशनं तस्य सुकरमिति व्यज्यते । बलातिशयादपि गजेन्द्रोऽनतिप्रयासेनैव द्रुममुन्मूलयतीति बोध्यम् । यदुक्तम् "स्वतो माऽन्यः कर्मद्रुमुन्मूलकी मूलत" इति । 'ऐरावतो हस्तिमल्लः श्वेतगजोऽभ्रमुप्रियः' इति हैमः । कर्मक्षपितानां हि तापक्लान्तानां मयूराणां तापनाशको वारिद इव कर्मद्रुमोन्मूलको भक्तिरिति द्रष्टव्यम् । अत्र वारिदरूपस्य द्रुमपोषकत्वाऽनुपपन्नस्य द्रुमोन्मूलकहस्ति-मल्लतया रूपणमसमञ्जसमिव प्रतिभातीति समाक्षेपणीयम् । विशेष्यमाह—भक्तिम्=उपास्यमनभिव्यक्तीर्णकत्वम्, यस्मिन् गर्भस्थे मातुः पुण्य मात्मजस्यनयोदयाद्वदनुसारेण पितृभ्यां भक्तिरिति ख्यापितम्,

अभिष्टुम =गुणकीर्त्तनेन कृत्वा तदाभिमुख्यं साधयामः । आनन्द-लाभार्थं कर्मोन्मूलनार्थं चेति तादृशविशेषणमहिम्ना प्रतीयते ॥ २१ ॥

अथ विंशतितम मुनिसुव्रतजिन स्तुवन्नाह—

**जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम् ।**
**मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुम ॥ २२ ॥**

जगदिति । **जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम्** = जगत-स्तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्याज्जगज्जन्तूना यो महाननादिकालप्रवृत्तत्वादुत्कट-त्वाच्च दीर्घो गाढश्च यो मोहोऽनात्मनि ममत्वबुद्धि , यदुक्तम् "अनित्य-घनदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च । अज्ञानेनाऽऽवृता बुद्धिर्मोह इत्यभि-धीयते" इति । स एव सत सज्ज्ञानस्याऽन्तरायत्वात्तदागमप्रतिपन्थि-त्वाच्च निद्रा शयनमिव, "स्यान्निद्रा शयन स्वाप" इत्यमर । तस्या निवर्त्तन-साधनलक्षणेन सम्बन्धेन तत्सम्बन्धी यत्प्रत्यूषोऽहर्मुखम् , "उषसि प्रबुद्ध्येते" त्युक्तेरिति भाव. । "प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमि" त्यमरः । तदात्मक समय काल , दिवसस्य पञ्चपञ्चाशत्तमघटिका । यदुक्तम् "पञ्च पञ्च ऊष काल. सप्त पञ्चाऽरुणोदय । अष्टपञ्च भवेत्प्रात.शेष. सूर्योदय स्मृत" इति । स निवर्त्तकत्वसाधर्म्यादुपमा यस्य तत्तादृशम् । यथा प्रत्यूषकालेन निद्राविलयो ज्ञानागमश्च, तथा मुनिसुव्रतवचनेन मोहव्यपोह सज्ज्ञानलाभश्चेत्यर्थ । **मुनिसुव्रतनाथस्य**=मुनिसुव्रतस्त-दाख्यश्चाऽसौ मोहनाशाद्यर्थमाशास्यमानत्वान्नाथश्च तस्य तदाख्यस्य विंशतितमतीर्थङ्करस्य, अस्मिन् गर्भस्थे मातुर्मुनेरिव सुव्रतभावात्तदनु-सारेण पितृभ्यां मुनिसुव्रतेति कृताऽभिख्यस्य, तदुच्चरितत्वेन तत्सम्बन्धी-

स्यर्थः । देशनावचनम्=देशना धर्मोपदेशरूपं वचनम्, मानं मित्यर्थः । स्तुमः=कीर्तयामः, मोहनिद्रायां गतनिद्रस्येव विलीनमोहस्य वस्तुयाथात्म्याऽवगमश्च यथा स्यादिति भावः । उपमाऽलङ्कारः ॥२०॥

अथैकविंशं नमिनाथजिनं स्तुवन्नाह—

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।
वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांशवः ॥ २१ ॥

लुठन्त इति । नमताम्=साऽष्टाङ्गप्रणामपूर्वकमभिमुखतया मूर्ध्ना पादस्पर्शो यथा स्यात्तथा प्रणमतां जनानाम्, मूर्ध्नि=मस्तके "मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । लुठन्तः=सम्मूर्च्छन्तः, प्रसरन्तः सन्त इत्यर्थः । वारिप्लवाः=वारीणां प्लवनानि प्लवाः पूरास्तद्वत् सन्तः, तत्प्रसरणस्य निर्मलत्वाऽऽपादकत्वादिति भावः । इवेन समासो विभक्त्यलोपश्चेत्यनुशासनादुपमायामपि न विभक्तिलोप इति बोध्यम् । "मण्डूके पूरे प्लवोऽपि च" इति हैमः । निर्मलीकारकारणम्=अनिर्मलस्य शारीरकर्ममलसमाविष्टस्य कर्मादिभिरुपलिप्तस्य च निर्मलस्योपाधिनैर्मल्यस्याऽपाकरणेन कृत्वा पवित्रस्य करणं निर्मलीकारस्तस्य कारणं कारणभूताः अन्वयिता वाच्येऽलङ्कारभूतकारणस्यैकत्वात् यथा प्रमाणमित्यादिवदेकवचनमुपपन्नमित्थम् । नमेः=एकविंशतितीर्थङ्करस्य अस्मिन् गर्भस्थे मासानन्तरमिव मथुरायामवलोकनमात्रेण शत्रवो नता इति तदनुसारेण पितृभ्यां नमिरिति ख्यातिमुपगतस्य पादनखांशवः=पादयोर्ये नखास्तेषां अंशवो मयूखाः "किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः" इत्यमरः । पान्तु=रक्षन्तु । निर्मलीकरणेन कुर्वन्तु इति भावः । प्रसरन्-

क्रियासाम्यात्स्वकण्ठरवोक्तनिर्मलीकारक्रियासाम्याच्चाऽत्रोपमाऽलङ्कारः । अत्रोपेक्षा वर्णयन्तस्त्वलङ्कारमर्मणा दत्ताऽर्धचन्द्रा एव । उपमाप्रयोजकोभयसामान्यक्रियायाः स्वयमेवोक्तेः । प्रकृतस्य परात्मना सम्भावनमुत्प्रेक्षा, न तु सामान्यधर्मोक्तिपुरस्सरं साम्यप्रतिपादनम् । उत्प्रेक्षायामपि साम्यं मूलमित्यन्यदेतत् । यथा हि मूर्ध्नि लुठद्भिर्वारिपूरैः स्नानादौ शरीरस्य मलाऽपकर्षणेन कृत्वा निर्मलता, तथा मूर्ध्नि लुठद्भिः पादनखांशुभिस्तेषां पुण्यत्वात्कर्ममलाऽपकर्षणत आत्मनः शुचितेति तत्त्वम् ॥२३॥

अथ द्वाविंशमरिष्टनेमिजिनं स्तुवन्नाह—

**यदुवंशसमुद्रेन्दुः कर्मकक्षहुताशनः ।**
**अरिष्टनेमिर्भगवान् भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥**

यदुवंशेति । **यदुवंशसमुद्रेन्दुः**=यदूनां यदुनामनृपाऽपत्यानां यो वंशः सन्तानः, "वंशोऽन्ववायः सन्तानः" इत्यमरः । स एवाऽतिमहत्त्वात्तल्यातिसलिलराशिपूर्णत्वादसङ्ख्यातपुरुषरत्नादिसम्भृतोदरत्वाच्च समुद्र इव, तस्य तद्वर्धकत्वात्तद्भवत्वाच्च तत्सम्बन्धीन्दुश्चन्द्र इव, चन्द्रः समुद्रोद्भवः समुद्रवर्धकश्च प्रसिद्धः, तद्वदयमपि । यदुवंशवर्धको यदुवंशोद्भवश्चेत्युपमा । तथा, **कर्मकक्षहुताशनः**=कर्माणि शुभाऽशुभानि कक्षा वनानि, "कान्तारं विपिनं कक्षं स्यात्षण्डं काननं वनमि"ति हैमः । तस्य तन्नाशकत्वात्तत्सम्बन्धी हुताशनो वह्निरिव, स तादृशः । हुताशनो वनमिवाऽयं कर्माणि स्वीयानि चारित्रादिना परकीयाणि च तथाविधोपदेशादिना नाशयतीति भावः । ननु स क इत्यपेक्षायामाह—**भगवान्**= ऐश्वर्यादिरूपप्रशस्तमूमभगसम्पन्नः,

एतेन विशेषणेन स्वेष्टसिद्धिसम्पादकोक्ता, भगवत एवेष्टसिद्धिसम्पादकत्वं बोध्यम् । अरिष्टनेमिः=द्वाविंशो द्वाविंशतीर्थङ्करः, यस्मिन् गर्भस्थे मात्राऽरिष्टरत्नमयचक्रधारा ऽस्य स्वप्ने दृष्टा तदनुसारेण पितृभ्यामरिष्टनेमिरिति कृतनामास्य । वः=युष्माकम्, अरिष्टनाशनः=अरिष्टमाध्यात्मिकमाधि- दैविकाऽऽधिभौतिकमुपसर्गं सदुपदेशादिना ऽभिनिवारयितुं शीलमस्येति स तादृश, सर्वोपसर्गोत्सारक इत्यर्थः । "उपसर्गः स्मरिष्टं स्यादुपसर्ग उपद्रव" इति हैम । भूयात्=भवत्वित्याशासे । एतेन अरिष्टस्य चक्रादिनेमिवद्भिदारणादरिष्टनेमिरित्यन्वर्थोऽभिधेयता ध्वनिता । नामभेदम, रूपकपरतया व्याख्याने तु नामरूपक बोध्यम् ॥ २४ ॥

अथ श्रेयोऽर्थिनां पार्श्वनाथजिनं स्तुवन्नाह—

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

कमठ इति । स्वोचितम्=तस्य तस्य कमठस्य धरणेन्द्रस्य च यदुचितमभ्यस्तं न्याय्यं योग्यं च तथाभूतम् स्वस्वभावस्यानुरूपमित्यर्थः । 'न्याय्ये ऽप्युचितं न्याय्यमि'त्यमर । कर्म=व्यापारः तत्र कमठस्याऽ- सुरविशेषस्य परापकारविधानाभ्यासात्तथाप्रधानप्रकृतितया परोपसर्ग- करणादेरेव तदनुगुणत्वात् स्वोचितत्वादिति पार्श्वनाथप्रभोः प्रतिमस्थस्य सतु उपसर्गरूपं कुर्वतीत्यर्थः । धरणेन्द्रपक्षे च-तस्य देवप्रकृति- तया सत्त्वप्रधानतया परोपकारकरणाभ्यासात्परदुःखविमोचनादि व्यापारस्यैव च तदनुगुणत्वा च पार्श्वप्रभो कमठविहितोपसर्गनिवारणात्मकं सत्कर्म च कुर्वति=अनुतिष्ठति, कमठे=तदाख्यासुरविशेषे धरणेन्द्रे

=जिनभक्ते तदाख्ये नागराजविशेषे, चः समुच्चये, तेन स्वोचितं कर्म कुर्वतीत्यस्योभयत्राऽन्वयः। तुल्यमनोवृत्तिः=तुल्या मध्यस्थतयाऽपकारिणि द्वेषरहितोपकारिणि च रागरहिता च मनोवृत्तिर्भावोऽभिप्रायो यस्य स तादृशः, समतामतिरित्यर्थः। वीतराग इति यावत्। इदमसाधारणमलौकिकं च वैशिष्ट्यं यदपकारिणि न द्वेष उपकारिणि च न राग इति भावः। विशेष्यमाह—पार्श्वनाथः=तदाख्यस्त्रयोविंशस्तीर्थङ्करः, अस्मिन् गर्भस्थे तमस्विन्यामपि रात्रौ मात्रा पार्श्वतो गच्छतः सर्पस्याऽवलोकनात्पितृभ्यां तदनुसारेण पार्श्व इति कृताऽभिख्य, प्रभुः=स्वामी, एतेन तस्य समता नाऽशक्तस्येति मनोरथसिद्धिसम्भावना च सूच्यते। वः=युष्माकम्, श्रिये=लक्ष्म्यै, अस्तु=भवतु। यो हि वीतरागस्तत एव चिन्तामणिवत्प्रार्थनासिद्धिरिति तात्पर्यम्। पार्श्वनाथप्रभौ प्रतिमामास्थिते तद्ध्यानभङ्गाय पूर्वजन्मवैरिणा कमठदानवेनोपसर्गः कृतः। प्रभोः परमोपासकेन नागराजेन धरणेन्द्रेण च स निवारित इति कथामनुसन्धायैषा स्तुतिरिति बोध्यम्॥ २५॥

अथ चरमजिन श्रीमहावीरस्वामिनं स्तुवन्नाह—

**कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः।**
**ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः॥ २६॥**

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित सकलाऽर्हत्स्तोत्र समाप्तम्॥

कृतेति। कृताऽपराधे=कृतो विहितोऽपराधो मन्तुर्विविधोपसर्गरूपो येन स तादृशस्तस्मिन्, अनिष्टाऽऽचरणेनाऽपराधिनि, अपि-

भिलक्ष्मो मने इत्यनन्वयं मस्त्य । मने=अनुमसुरायौ लोके मित्र, अपिनाऽन्यरापिनि मने तु कथैव केति सूच्यते । कृपामन्यर तारयो:=कृष्णाऽकृत्वाऽपराधेऽप्यपकारपरायणस्याऽस्य मनस्य शत्रु- रस्य "हन्त ! कथमस्य सदसिर्मनिते"ति परदु-समक्षामेच्छया मन्ये मिस्पन्दे धारे कनीनिके मयोस्तारस्यो, कृपयाऽश्रमेकमानस्य मैत्री निष्कले मवतीति वासिरिति माव । "भागोऽपराधो मन्तुमे"ति 'तारकाऽक्ष्म कनीनिके'ति चाऽमर । ईषद्राप्यार्द्रयो:=करुणया चेतसो द्रुतत्वाद्दीपदस्य बाष्पेण नेत्रजलेनाऽऽर्द्रे क्लिन्ने, तयोस्तारस्येः करुणापूर्णयोरित्यर्थः । 'बाष्पं नेत्रजलेऽम्भो'रित्यमर । भिरोन्मय- भीभीरप्रभिनमन्नयो:=भीतहितो वीरस्वाऽऽसाऽसाधारणमहोपसर्गोऽप्य- क्षोभान्महावीर इति लोके ख्यातत्माऽसौ जिनश्च, तस्य चतुर्विंशतित- तीर्थङ्करस्य नेत्रे अक्षिणी तयो., भद्रम्=मङ्गलम्, तावसौ भीवीर- जिननेत्रे सकलमङ्गलाऽऽस्मिके इत्यर्थ । भमेदेऽपि राहो स्थिर रुचि- सत्यष्ठी बोध्या । 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभमि'त्यमर । एतेन वीरजिनस्य निर्विकारमनसिकत्वं सूचितम्, कथमन्यथाऽपकारि- ण्यपि करुणेति बोध्यम् । अत मामिनि तथा कल्याणं रूपमङ्गलमेव, तत्र एव मङ्गलकारकं चेति द्वयम् । अत्र-दिगिमिकपरिपन्थि क्षमेण विहितं "सम्प्रति चञ्चलस्तो वीरोऽमिनि पावनन् सुदुष्करतप-परास्त केनाऽपि माऽभ्यान कर्तुं शक्यत' इति परमजिनस्यमचनमाकर्ण्य माताऽसूय सङ्कोचमभ्यान परीक्षितुं तत्र एव महीतलमवतीर्य महिमामस्य परमजिनस्य विविधं बाल्यमुपसर्गं कर्तुं प्रक्रमे सङ्गमाख्य सुरः । तेन चाऽसुर्ये तथैव निश्चलध्यानस्थीन सर्वशोभस्य निष्फल-

श्रमःस्थगित इव जातः स सुरः स्वस्थानं गन्तुमुपक्रान्तो "हन्त! कथमस्य सुगतिर्भविते"ति तच्चिन्तया कृपया निश्चलाभ्यामश्रुस्निग्धाभ्या भगवता ददृशे। तत्स्थितिमनुसन्धाय स्तुतिरेषा जिनस्य निष्कारण-कारुणिकत्वसूचनाय प्रवृत्ता। एतेन स्वस्मिन्नपि प्रभोस्तादृशदृष्टिप्रार्थन ध्वन्यते ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते सकलाऽर्हत्स्तोत्रे श्रीतपोगच्छाऽधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकाऽऽचा-र्यवर्यश्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजय-विज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजय-कस्तूरसूरीश्वरशिष्यपन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकला-ख्या व्याख्या समाप्ता ॥

# ॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

अथ परिशिष्टपर्व प्रारिप्सुनाऽनेनैव कलिकालसर्वज्ञेन श्रीहेम-चन्द्राचार्येण प्ररिप्सितपरिसमाप्तिकामेन विघ्नविघाताय कृत चतुःश्लोका-त्मक श्रीवीरजिनस्तुतिरूपं मङ्गलमपीह प्रसङ्गाद्व्याख्यायते। तत्राऽयमाद्य. श्लोक —

**श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया।**
**महानन्दसरोराजमरालायाऽर्हते नमः ॥ १ ॥**

श्रीमत इति। अर्हते=अर्हति पूजा सुरादिकृतामित्यर्हन्, तस्मै तीर्थङ्कराय सुरासुरादिपूजिताय, यतश्चाऽर्हन्नत एव, अद्भुतश्रिया=अद्भुत-याऽसाधारणयाऽलौकिकया च। असाधारणमलौकिकमेव चाऽद्भुत भव-

दीति बोध्यम्। तादृश्या तया, श्रिया लक्ष्म्या सहजातिशयरूपया, "विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यम्" इत्यमरः। सनाथाय=समन्विताय, अत एव च, महानन्दसरोराजमरालाय=महान् शाश्वताऽसम्पत्वमानन्दस्य, अनन्त इत्यर्थः। तादृशो य आनन्दः सुखम्, सकलकर्मक्षयजन्यसुखमित्यर्थः, स एव सरो महत्त्वपूर्णत्वादिसाम्यात्कासार "कासारः सरसी सर" इत्यमरः। तस्य छत्रगामस्थानसम्बन्धी यो राजमरालो मरालानां राजा, राजहंस इत्यर्थः। रामचन्द्रादिवल्लभाय। तद्रूपाय, यथा सरसि हंसेषु राजहंसः सर्वोत्तमश्रीसमन्वितः सर्वश्रेष्ठश्च भवति, तथा श्रीवीरजिनोऽपि महानन्दमयेषु सर्वोत्तम सुखाऽद्भुतश्रीसमन्वितः, अथार्हन् स हंस एव भवतीति भाव। तस्मै तादृशाय, श्रीमते=सर्वविषमक्षयमूर्मसंपत्समन्वितास भयप्यभादृद्भुतश्रिया सनाथायेत्युक्तयैव श्रीमते इत्युक्तयैव पौनरुक्त्यमपेऽन्यतरस्य नैरर्थक्यम्, तथापि श्रीशब्दयोगेन नामग्रहणस्याऽऽचारत्वादुपपन्नमिति सन्तोष्टव्यम्।

विशेष्यमाह—वीरनाथाय=वीरो विनाऽपि मत्वर्थं पूर्वोत्तरत्वयोर्लोपस्तस्या नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणन्यायात्महावीरपरमस्वामिवर, स एव सर्वजगदुपकारकत्वान्नाथ स्वामी, यत्र च वीरेषु येनोत्तमौदार्यसहिष्णुत्वादिगुणवीरपदवाच्यत्वेन प्रसिद्धेष्वसाधारणोपसर्गादिनाऽपि सत्त्वाऽप्रच्यावहेतोर्नाथ इव इव, महावीर इत्यर्थः। तस्मै, नमः=नमस्कारोऽस्तु। यो गुणविशेषणविशिष्ट सोऽवश्यं नमस्करणीय, तस्य सर्वसमुद्भवत्वात्। उक्तम्—'महर्षे भगवान् वीर" इति भाव ॥ १ ॥

श्रीगुरुवत्त्वेन स्तुत्वा ज्ञानिमुख्यत्वेन स्तुवन्नाह—

**सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।**
**देवाऽधिदेव सर्वज्ञं श्रीवीर प्रणिदध्महे ॥ २ ॥**

सर्वेषामिति । **सर्वेषाम्**=सकलानाम्, न तु कतिपयानामेवेति बोध्यम् । **वेधसाम्**=ज्ञानिनाम्, **आद्यम्**=आदौ भवस्तम्, आदौ गणनीयं कीर्त्तनीय चेत्यर्थः । मुखमिवाऽङ्गेषु प्रधानत्वान्मुख्यमिति वाऽर्थः । मुख्यो ह्यादौ प्रथममेव कीर्त्यते गण्यते चेति बोध्यम् । यद्वा—**सर्वेषाम्, वेधसाम्**=वहुवचनादुपलक्षणत्वाद्वेधा ब्रह्मेन्द्र', शेषाश्चेन्द्रास्तेषा पूज्यत्वादादौ भवमिव । अथवा, **वेधसः**=प्रजापतयस्तेषामाद्यं प्रथमम्, ऋषभप्रभु ह्याद्य. पृथिवीनाथ, अर्हतां च सर्वेषामभेदः, यदुक्तम्—"यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया । वीतदोषकलुष स चेद्भावनेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते" इति । तथा—**वेधसो** विष्णवस्त्रिपृष्ठादयो वासुदेवा अर्धचक्रिणस्तेषामाद्य प्रथमम् । भरतपुत्रो मरीचिर्हि प्रथमस्त्रिपृष्ठाख्यो विष्णु, मरीचिजीव एव च चरमोऽर्हन्निति श्रुतज्ञा । अत· श्रीवीरजिन एव वेधसामाद्य । "स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा" इत्यमर । "विष्णुर्जिष्णुजनार्दनौ .... वभ्रुशशविन्दुवेधस" इति हैमः । न केवलमसौ संसारिणामेवाऽऽद्योऽपि त्वससारिणामपीत्याह—**परमेष्ठिनाम्**=परमे लोकोत्तरत्वात्सर्वोत्तमे भावे=पर्याये तिष्ठन्तीति परमेष्ठिन. पञ्चाऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवस्तेषाम्, **आदिमम्**=आदौ भवम्, अतिशयाद्यसाधारणगुणविशिष्टतया निर्हेतुकपरमकारुणिकतया सर्वजगदुपकारकतया च

मुख्यत्वादादौ कीर्त्यमानमित्यर्थः । अत एव देवाधिदेवम्=देवेभ्यो-ऽधिकं श्रेष्ठं देवम्, अत एव सुरासुराधिभिर्भक्त्या ऽभ्यर्चनायोग्यमिति भाव । एतेषां सर्वेषामेव विशेषणानां हेतुभूतं विशेषणमाह—सर्वज्ञम्=करतला ऽऽमलकवद्विमलकेवला ऽऽलोका ऽऽकलितजगत्पदार्थसार्थम् अनन्तत्वनीहार इत्यतोऽस्तोकविशेषणगुम्फितमेवेत्यभिसन्धि । विशेष्यमाह-श्रीवीरम्=श्रीसहितं वीराख्यं चरमतीर्थकरम्, प्रमिदधाहे=तस्माभिविशं कुर्मः । शासनाऽसाधारणगुणविशिष्टत्वादेकः स एव मनिधेयो ध्यानेच्छुमिरिति हृदयम् ॥ २ ॥

तदेवमुपक्रमपरेण कल्याणमयत्वादिधौरेयत्वं समर्थ्य सम्प्रति कल्याणादिमूलतया स्तौति—

कल्याणपादपाऽऽरामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् ।
विश्वाऽम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥ ३ ॥

कल्याणेति । कल्याणपादपाऽऽरामम्=कल्याणं शुभं तदेव नानाविधाभिलषितानां प्रतिक्षणमुपयोगफलप्रदानसाधनमिति पादपो वृक्षस्तस्य तत्रोद्रोहपोषणाभ्यामाराम उपवनम् तद्रूपम् । यथा आरामे उपमानां पादपानां रोहपोषणादि तथा श्रीवीरात् कल्याणोद्रोहपोषणादीति परम्परितरूपकम् । " कल्याणं मङ्गलं शुभमिति " " आराम स्यादुपवनमिति चामर । कल्याणकारकत्वं प्रसाध्य, नन्वी मङ्गलमित्युक्तेरित्यत आह—श्रुतगङ्गाहिमाचलम्=श्रुतानि अनेकनयविभक्तान्यागमविशेषा न्याकृतानि च तान्येव सकलमलाऽपहाराऽपि गङ्गा तद्रूपा तस्याः प्रभवस्थिता नदी, गङ्गा हि अनादिना भगवता पारायणादिना शुचित्व

निमित्तमिति बोध्यम् । तस्या गङ्गायास्तत्प्रभवत्वात्तत्सम्बन्धी यो हिमाचलो हिमालयाख्यो नगाधिराजस्तद्रूपम् । यथा हि हिमवतो गङ्गा प्रभवति तथा वीराच्छ्रुतानि, तथा यथा हिमाचलो नगाधिराजस्तथा वीरो ज्ञानीन्द्र इति रूपकेण ध्वन्यते । अत्राऽपि परम्परितरूपकम् । अत एव, विश्वाम्भोजरविम्=विश्व जगदेव विकास्यत्वसाधर्म्या-दम्भोज कमल तस्य तद्विकासकत्वात्तत्सम्बन्धी रविः सूर्यस्तद्रूप, तम् । यथा रविणाऽम्भोज तथाऽनेन विश्व प्रबोध्यत इति परम्परितरूपकम् । अत एव, देवम्=देवाधिदेवम्, विनाऽपि प्रत्यय पूर्वोत्तरपदयोर्लोप इति ध्येयम् । श्रीज्ञातनन्दनम्=श्रीसमन्वितश्चाऽसौ ज्ञातस्य तथा-ख्यातस्य ज्ञातकुलस्येक्ष्वाकुविशेषस्य नन्दन आनन्दप्रदस्तम्, तत्रोत्पन्न-त्वात्तदुत्कर्षकत्वाच्चेति भाव । चरमजिनेश्वरं श्रीवीरमित्यर्थ । वन्दे= नमामि, यथा कल्याणश्रुतबोधलाभः स्यात्, तस्यैव तन्निदानभावादिति हृदयम् ॥ ३ ॥

सम्प्रत्यन्त शुद्ध्यर्थं वचनद्वारा चरमजिन स्तौति—

**पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।**
**भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥**

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्र समाप्तम् ॥

पान्त्विति । भव्यानाम्=अनादिपारिणामिकभव्यत्वभाववताम्, अभव्यभिन्नानामित्यर्थ । सेत्स्यता सम्यक्त्ववतामिति परमार्थ । आन्त-रमलप्रक्षालनजलोपमाः=आन्तरमन्तर्भवमात्मसम्पृक्तमित्यर्थ । तादृशं यन्मलं विकार कर्म वा कषायादिर्वा, पक्षे शरीरसश्लिष्टरज.प्रभृतिकं

च । तस्य मलस्याक्षालने परिशोधने, दूरीकरणे इति यावत् । जलं सलिलमुपमीयमानं यासां ता जलोपमाः, आत्मसम्बन्धिकर्मकषायादिमलक्षालने सलिलसमानीत्यर्थः । यथा जलेन शरीरादिसम्पृक्तमलस्य शोधनं तथा जिनेश्वरदेशनाश्रवणेनाऽऽन्तरमलस्यैवेति भावः । जलेन हि मलशोधनं प्रसिद्धमिति स्पष्टम् । यद्यप्यान्तरमलेऽपि विशोधनस्य मम सापेक्षत्वादसामर्थ्यम्, तथापि देशनस्य गुरुकुलवासादिवदुपकारात्समासो बोध्यः । श्रीमहावीरस्वामिनः=श्रीसन्मतिनो महावीरस्य चान्तिमतीर्थङ्कर एवोपदेशादिना सन्मार्गप्रदर्शनादिना कृत्वा पालकत्वात्स्वामीव तस्य श्रीमहावीरस्य, देशनागिरः=धर्मोपदेशवचांसि, वः=युष्मान् अस्मान् पान्तु=अपायाद्रक्षन्तु । तदाराधनेन चान्तरमलप्रक्षालनात्तथा सर्वाऽपायपरिहार इति ता देशनागिरः पान्तीत्यर्थः । तद्वचनमेव शरणं रागादिपराभूतानामिति तात्पर्यम् । अत्र शरीरादिमलमान्तरमलं चाऽन्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदाध्यवसायादतिशयोक्त्यनुप्राणितोपमा ॥ ४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते वीरजिनस्तोत्रे श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रमुखानेकतीर्थोद्धारकाचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तुरसूरीश्वरशिष्यपंन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥

— ✿ —

## ॥ प्रशस्तिः ॥

वृद्धप्रगुरु **नेमि** स्तीर्थोद्धाराऽऽप्तसद्यशोनिचयः ।
शासनसम्राड् जातो भविकुलकैरवकलानाथः ॥ १ ॥
तत्पट्टालङ्कारो वहुविधविरुदावलीपात्रम् ।
**विज्ञानः** प्रगुरु र्मे समयज्ञः शान्तमूर्त्तिश्च ॥ २ ॥
सुगुरु र्मे **कस्तूरः** प्राकृतविद्विशारदः सूरीशः ।
नव्यभव्याऽब्जबन्धुः सिद्धान्तमहोदधिर्गीतः ॥ ३ ॥
तत्कृपोपेतसुमतिः कीर्तिकला **कीर्तिचन्द्रो**ऽहम् ।
सकलाऽर्हत्स्तोत्रस्य व्याख्या स्वाख्या समाख्यमिमाम् ॥ ४ ॥
केऽपि द्रक्ष्यन्तीमामुपेक्षयाऽहङ्कृतिच्छलिताः ।
कष्ट मनसि दहेयु र्हा! मात्सर्यं दुरन्ततमम् ॥ ५ ॥
वराकोऽसूययाऽसौ द्विगुणितनीलाऽऽननो न वचनीय ।
स्वकृतं सद्यो भुङ्क्ते दैवहतस्याऽपहत्याऽलम् ॥ ६ ॥
तोपमेष्यन्त्यवश्य गुणगृह्या प्रेक्ष्य तामेताम् ।
व्याख्यासु सतीषु कतिषु सुमेषु कह्लारमिव भृङ्गाः ॥ ७ ॥
रसशीतांशुखनयने वैक्रमवर्षे समाप्तिमाप्तेयम् ।
मौन्यामेकादश्या सकलाऽर्हद्व्योऽर्हणा भूयात् ॥ ८ ॥
नेतः कीर्तिमपेक्षे पाठकजनमनःप्रसाद तु ।
तदर्हतो भक्तानपि सद्भक्त्येह प्रपन्नोऽस्मि ॥ ९ ॥

इति कीर्तिकलाव्याख्यासहित श्रीसकलाऽर्हत्स्तोत्रं श्रीवीरजिनस्तोत्रं च समाप्तम् ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

# श्रीमहादेवस्तोत्रम्

## पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-कीर्तिकलाव्याख्याविभूषितम् ।

वीतराग महादेव करुणावरुणालयम् ।
सिद्ध्येकसाधनं सद्धीप्रदं केवलिनं श्रये ॥ १ ॥

तपोगच्छनिरभ्राऽभ्रभानुं शासनचक्रिणम् ।
तीर्थोद्धाराऽऽप्तसत्कीर्तिं सूरिं नेमिं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

समयज्ञं विज्ञानं सूरिं शान्तमूर्त्तिं प्रगुरुम् ।
शिष्यप्रशिष्यसेवितचरणद्वन्द्वं नमामि जनतेऽव्ययम् ॥ ३ ॥

सूरीशः प्राकृतविद्विशारदः शारदेन्दुसितकीर्तिः ।
कस्तूरः शरणं मे सिद्धान्तमहोदधिः सुगुरुः ॥ ४ ॥

पन्यासः कीर्तिचन्द्रोऽहं व्याख्यां कीर्तिकलाऽभिधाम् ।
करोमि श्रीमहादेवस्तोत्रस्याऽर्थविदे मुदा ॥ ५ ॥

इह हि जगति खलु लोके नानाविधाऽऽधिव्याध्यादिभिः पीडितजनो मुक्तिमिच्छुर्विविधेषूपायेषु प्रवर्तते । तत्र देवाराधनमप्युपायत्वेन प्रतिपादितं । देवाश्च बहवोऽनेकरूपगुणकर्मादिशास्त्रसम्पन्नाश्च प्रकीर्तिताः । तेषु च सर्वेभ्यो महादेव शिवमहेश्वरादिपदैः ख्यातमाहात्म्यो गीयते भक्तजनमुपास्यते च । स च कीदृक् किं गुण इत्यत्र सम्प्रदायभेदान्महान् मतभेदः । अत एव व्यामोहो मा भूदिति लोकहितेच्छुः स्वनामधन्यः कलिकालसर्वज्ञः श्रीहेमचन्द्राचार्यः शिवमहेश्वरमहादेवादिपदार्थं स्तोत्रके निरूपयिषुः महादेवाष्टकमुपक्रान्तः आदौ शिवपदार्थनिर्वचनेन कृत्वा स्तुवन्नाह—

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।
माङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥

प्रशान्तमिति । यस्य=यदीयम्, षष्ठ्येकवचनमित्यर्थः । दर्शनम् =अवलोकनम् प्रशान्तम्=अनुपममनुद्वेगकरं सौम्यमुपशममाधेयोपकत्वाच्चाभयञ्च, न तु तीर्थान्तरप्रसिद्धदेववत् नेत्रगात्रवक्त्रादिविकारादुग्रमुद्गरकरमसौम्यमित्यप्रशान्तमिति भावः । तथा प्रशान्तत्वादेव च सर्वभूताऽभयप्रदम्=सर्वेभ्यो न तु कतिपयेभ्य एव भूतेभ्यो जीवेभ्योऽभयं भयाऽभावं प्रददाति भयं न करोतीति तत्तादृशम्, न तु देवान्तरवच्छस्त्रादिसन्निधानात्क्रोधाद्यावेशत्वात्स्वद्वेषिघातादेश्च कदाचित्कस्याऽपि भयप्रदम् । तस्मादिमतो न जना बिभ्यतीति भावः । अत एव माङ्गल्यम्=मङ्गलविषये साधु, मङ्गलावहमित्यर्थः । न तु देवान्तरवत् शूलगदादिप्रहरणपारात्कपालमुण्डमालादिसमन्वितत्वात्

मङ्गल्यमिति भावः। एतेन दर्शनस्य मङ्गलात्मत्वं सूचितम्। स्वयमङ्गलस्य मङ्गलहेतुत्वाऽयोगादिति बोध्यम्। अत एव, **प्रशस्तम्**=वर्णनीयमदुष्टमिष्टं च, न तु दिगम्बरादिभावाज्जुगुप्सादिकरत्वादप्रशस्तमिति भाव·। एतेन दर्शनस्याऽवश्यकरणीयत्व सूच्यते। यद्धयप्रशस्त दर्शन न तत्कस्याऽपि करणीयमिति बोध्यम्। **चद्वयं** सर्वविशेषणसमुच्चये, तेन चैकैकमात्रस्याऽपर्याप्तत्व सूच्यते, एतेषा गुणानां समुदितानामेव शिवत्वप्रयोजकत्वमित्याशयाऽवगमादिति ध्येयम्। अथ च, **यस्य**=यदीयम्, यदुपज्ञमित्यर्थ·। **दर्शनम्**=पदार्थयाथात्म्यज्ञानाऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धयुपायभूतमार्ग, स्याद्वादरूप सिद्धान्त इति गूढाकूतम्। **प्रशान्तम्**=उपशमप्रतिपादकत्वात्कार्ये कारणोपचाराच्छान्तिप्रदमित्यर्थ·। न तु दर्शनान्तरवद् हिंसासाध्यविध्याद्युपदेशकत्वादप्रशान्तमिति भावः। तथा, **सर्वभूताऽभयप्रदम्**=सर्वभूताऽभय प्रददाति दयाऽहिंसादीना विधेयतया प्रतिपादनेन कृत्वा प्रयोजयतीति तत्तादृशम्, सर्वभूताभयोपदेशकमित्यर्थ.। न तु देवान्तरोपज्ञदर्शनान्तरवदभिचारादिप्रतिपादनेन कृत्वा भयप्रदमिति भाव। अत एव, **मङ्गल्यम्**=सम्यग्ज्ञानादिमङ्गलप्रयोजकत्वान्मङ्गलप्रयोजकम्, "नन्दी मङ्गलमि"त्युक्तेरिति बोध्यम्। अत एव चैतद्दर्शनमपि मङ्गलमिति सूच्यते। तत एव च, **प्रशस्तम्**=दर्शनश्रेष्ठम्, वस्तुयाथात्म्यप्रतिपादकत्वात्सन्मार्गप्रदर्शकत्वाच्चेति भाव। यदुक्तम् "प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयति शासनमि"ति। एतेनाऽस्याऽवश्योपादेयत्व ध्वन्यते। अप्रशस्तप्रशस्तत्वयोर्हेयोपादेयत्वप्रयोजकत्वादिति बोध्यम्। **तेन**=उक्तगुणमहिम्ना, स इति यच्छब्दबलाल्लभ्यते। **शिवः**=शिव कल्याणमस्त्यस्येति स तादृशः,

शिवशब्दवाच्य इत्यर्थः । विभाव्यते=ज्ञायते, विचार्यते वा । कै-
रिति शेषः । यो हि शुभकारकः शुभगुणाश्रयश्च तस्यैव शिवपदवाच्य-
परमार्हतैः । यस्य हि दर्शनमात्रत्वाविर्भूतगुण्यारम्भे हिंसादिसावद्यो-
पदेशकत्वाद्योग्यमुद्वेगकरमसौम्यमत एव भयप्रदमत एवाऽशुभस्वरूपं
च, स परिच्छिन्नदर्शिनः को नाम विभाव्येत ? । अत्र दर्शन-
कर्तृसम्बन्धेन लोकसामान्यकर्तृकत्व लोकसामान्योपादेयत्वं च मन्यते ।
मनीषिणां तु दर्शनं न करणीयं नैवोपादेयमप्यशिवत्वादित्यभ्येयम् ।
तीर्थान्तरे पुनो भीमोऽरिकामो नमो मृतप्रसो मुण्डमालादिविभूषणो
हिंसादिसाध्ययज्ञादिविधिविधानदर्शनानुपदेशको निग्रहाऽनुग्रहाप-
क्षपातादिसहितश्च शिवो वर्ण्यते । स च मतेनैव शिवः । शिवत्व-
तारस्यस्य तद्दर्शनस्य न शिवत्वमिति मतं च सोऽशिव एवेति गूढ-
सूत्रम् ॥ १ ॥

अथ निरुक्तिपूर्वकं तमेव शिवं महेश्वरत्वेन स्तौति—

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तं वन्देऽहं तं महेश्वरम् ॥ २ ॥

महत्त्वादिति । यः=परमो देवः, उक्तप्रकारः शिव इत्यर्थः
अस्ति । महत्त्वात्=मह्यते पूज्यते शक्रसामानिकसामान्यपारिषद्यैर्लौकिक-
सहयोगनिष्ठसकलविद्वत्साधुलोकैरिति महान्, पञ्चमहाव्रतोत्तमोत्तम-
पुरुष महत्त्वम् निर्विशेष उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एवेति ।
ईश्वरत्वात्=ईष्टे वस्तुयथार्थस्वरूपमर्मभेदिमार्गादिकमनुशास्ति शास्त्र-
नित्येनेतीश ईश्वरः, ऐश्वर्यसम्पन्नः, तस्य भावस्तस्मात्, यः स्तुवते ।

महत्त्वेश्वरत्वोभययोगादिति हृदयम् । **महेश्वरताम्**=महाश्चाऽसावीश्वरश्च, तस्य भावस्तत्ता देवाधिदेवत्वमित्यर्थः । **गतः**=प्राप्तः, न तु नाममात्रेण भक्त्या श्रद्धादिना महत्त्वाद्यभावेऽपि तथाख्यात इति भाव । उक्तगुणसम्पत्तौ हेतुगर्भं विशेषणमाह—**रागद्वेषविनिर्मुक्तम्**=रागो विषयासक्ति द्वेषोऽनिष्टेऽप्रीतिरुपलक्षणत्वात्कषायादयश्च, तैर्विनिर्मुक्तमसम्पृक्तम् । तथाविधज्ञानचारित्रादिना रागादिमूलकर्मण· साकल्येन क्षयात्कारणाऽभावात्कार्यस्य सुतरामभावाद्वीतरागमित्यर्थ । वीतराग एव महानीश्वरश्चेति स एव महेश्वर । अनीदृशस्तु रागादिपरतन्त्रतया न महान्नवेश्वर इति भाव· । अत एव, **तम्**=तादृश महत्त्वादीश्वरत्वाच्च महेश्वरता गत वीतरागम्, **महेश्वरम्**=महेश्वरेत्यन्वर्थसंज्ञासञ्जिनम्, देवाऽधिदेवमित्यर्थ । **अहम्**=भक्तिश्रद्धासमन्वितो विवेकी स्तोता, **वन्दे**=नमामि । स्वात्मोत्कर्षार्थमित्यात्मनेपदेन सूच्यते । यस्त्वनीदृशो दारपरिग्रहाऽसुरहननादिना रागद्वेषपरतन्त्रः, अत एवाऽमहाननीश्वरश्च, स न वन्दनीयो विवेकिभिरिति हृदयम् ॥ २ ॥

ज्ञानादिविशेषवैशिष्ट्यादेव देवस्य महत्त्वमित्याह—

**महाज्ञानं भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।**
**महादया-दम-ध्यान महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥**

महाज्ञानमिति । **यस्य**=यादृशस्य देवस्य, **लोकालोकप्रकाशकम्**=लोकस्य लोकवर्तित्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपदार्थसार्थस्य, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति बोध्यम् । अलोकस्य च प्रकाशक परिच्छेदकम्, अत एव, **महाज्ञानम्**=महत्सर्वपदार्थविषयत्वादनन्तत्वाच्छुद्ध-

त्वाच्च सर्वविदं ज्ञानं तत्, केवलज्ञानमित्यर्थः । ज्ञानान्तरं तु मति-श्रुतादिकमल्पविषयमिति न तन्महदिति बोध्यम् । भवेत्=स्यात् । य सर्वपदार्थसार्थपरिच्छेदकत्वेन केवलज्ञानवानिति सारार्थः । तथा, महा-दयादमध्यानम्=महत् सर्वजीवविषयत्वात्प्रकर्षत्वाच्च सर्वोत्कृष्टा दया, सा च सर्वेन्द्रियविषयत्वाद्विवेकसम्प्रयुक्तत्वाच्चाऽन्तःसोऽस्याप्यस्य दमः स च शुभात्मकत्वान्निर्विकल्पत्वाच्च सर्वोत्तमं ध्यानं समाधिः तेषां समाहारो दयादमध्यानम्, अस्येति भवेदिति च सम्बध्यते । दया=परदुःखप्रहाणेच्छा, दम इन्द्रियनिग्रहः, ध्यानं च शुक्लध्यानमिति ध्येयम् । यदुक्तम् "सर्वाभिः कृपाऽऽप्लुते"ति, "सकलानि च चाऽक्षाणि नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक्त्वमतिरस्य सर्वेन्द्रियवश-स्त" इति ' ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयमेकात्मतां गतमि"ति च । सः=तादृशो महाज्ञानदयादमध्यानवान् देव एव । सर्वं वाक्यं साव-धारणमिति न्यायादेवकारो लभ्यते । तेन चाऽस्य ज्ञानदयादमध्यान-व्यवच्छेदः । महादेवः=महादेवपदप्रतिपाद्यः, उच्यते=कथ्यते । महादेवपदेन स एव गीयते इत्यर्थः । न तु तीर्थान्तरप्रसिद्धो महा-देवोऽस्मात् मुक्तिमार्गोपदेशानिर्दयोऽसुरादिहननात्मदमरहितो दार-परिग्रहादेर्दुर्ध्यानो द्वेषिमनुष्येषु कोपादिमत्त्वादिति भावः ॥ ३ ॥

अथेन्द्रियजयद्वारा देवस्य पुनर्महत्त्वमाह—

महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्ति स्वशरीरके ।
निर्जिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥

महान्त इति । **स्वशरीरके**=स्व निज यच्छरीरम्, स्वार्थे क । तस्मिन्, निजदेहे, **तिष्ठन्तः**=वर्तमाना, **ये**=यत्प्रकारा, तुरेवाऽर्थे भिन्नक्रम स इत्यनेन सम्बध्यते । **महान्तः**=धनधान्याद्यपहारक-तस्कराऽपेक्षया बलवन्तो दुर्निग्राह्या आत्मसम्पदा सम्यग्दर्शनादीनां पश्यतोहरा, **तस्कराः**=चौरा, इन्द्रियाणि मनोवच काययोगरूप आस्रवो वा । तानि हि बलाद्विषयेषु प्रवर्त्तयन्ति सद्दर्शनादीनि मुष्णन्तीति बोध्यम् । "चौरस्तु प्रतिरोधकः । दस्यु पाटच्चर स्तेनस्तस्करः पारिपन्थिक" इति हैम । अन्ये हि तस्करा परोक्ष एव बाह्य धनमेव च मुष्णन्ति, इन्द्रियाण्यास्रवाश्च शरीरे कृतस्थितय एव बला-दात्मसर्वस्वं दर्शनादिकमपहरन्तीति तानि महान्तस्तस्करा इति हृदयम् । ते इति यच्छब्दबलाल्लभ्यते । **येन**=यत्प्रकारेणाऽनन्तज्ञानादिमता संवरसंवृतेन, **देवेन**=देवपदवाच्येन, **निर्जिताः**=वशीकृता निगृहीता वा । यो देवो जितेन्द्रिय संवरसंवृतश्चेति निष्कृष्टोऽर्थ, न तु दार-परिग्रहादिनिरत. शत्रुवधादिकदारम्भवाश्चेति हृदयम् । यदुक्तम्—"सयतानि न चाऽक्षाणि नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक्प्रतिपदा त्वयेन्द्रियजय कृत" इति, "मनोवच कायचेष्टा कष्टा संहृत्य सर्वथा । श्लथत्वेनैव भवता मन शल्य वियोजितमि"ति च । **स तु**=स एव, **महादेव उच्यते** । बाह्यतस्करजयवदान्तरतस्करजयो येन विहित स महादेव । बाह्यतस्करजये तु देवमात्रम् । अन्येषामपि तादृशत्वान्महत्त्वे बीजाऽभावात् । ततश्चाऽन्यादृशोऽजितेन्द्रियो हिंसा-द्यारम्भवाश्च देव परतीर्थिकप्रसिद्धो महादेव सामान्यदेवसदृश एवेति न केवलं महत्त्वमपि तु देवत्वमपि तस्याऽतिवह्वित्याकूतम् ॥ ४ ॥

सम्प्रति वीतरागत्वेन महादेवत्वमाह—

**रागद्वेषौ महामल्लौ दुर्जयौ येन निर्जितौ ।**
**महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारकाः ॥ ५ ॥**

रागद्वेषाविति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महामल्लौ=महान्तौ पराऽपेक्षया देहसम्बन्धिविशिष्टपराक्रमाधिकौ यौ मल्लौ लोके प्रसिद्धौ व्यायामादिना शारीरिकविशिष्टशक्तिसम्पन्नौ प्रबलौ, महान्तावित्र, मनःप्रभृतिसमग्रवृत्तत्वेनाऽतिबलत्वादिति बोध्यम् । अत एव दुर्जयौ=दुःखेन जीयेते इति तादृशौ कष्टसाध्यनिग्रहौ महामल्लो हि प्रसूक्ष्मतया जेतव्य कस्याऽपि, महत्त्वस्यान्यथाऽनिर्वाहात् । एवं च महामल्लोऽन्येषां भवतु मा वा दुर्जेयस्तु भवत्येवेति भाव । रागद्वेषौ=रागो विषयेष्वादरो द्वेषोऽनिष्टेऽप्रीति तादृशौ तौ, मल्ला अपि हि यथे रागद्वेषयोरधीनास्तयोर्महामल्लत्वमुचितमेवेति ध्येयम् । निर्जितौ=निगृहीतौ त्यक्तावित्यर्थः, विनाशिताविति यावत् । रागादीनां निग्रहस्त्यागस्य नाशस्य चाऽन्नान्तरतेति बोध्यम् । तुरेवार्थे भिन्नक्रमश्च मिस्पनन्तर प्रयम्य । तथा च, तं तु=तमेव, तादृशं महामल्लरागद्वेषजेतारं देवमेवेत्यर्थ । महादेवम्=महादेवपदाऽभिधेयम्, मन्ये=स्वीकरोमि । महामल्लजयुर्महादेवस्य सहेतुकमित्यत्वदेव स्वीकारार्थमिति हृदयम् । ननु तदतीर्थेषु बहवो महादेवा प्रसिद्धा, न च ते सर्वे वीतरागद्वेषाः परिग्रहादिना रागादिसद्भावाऽवगमात्, तत्कथेतरमहादेवत्व तेषा कथमिति चेत्ताह—शेषाः=रागादिमेतुरन्ये महादेवपदसम्बोध्या वै=निश्चयतः, नामधारकाः=महादेवेति नामैव

धारयन्ति, न तु तत्र महादेवपदार्थोऽपि घटते। एवञ्च ते रूढ्यैव महादेवा न तु योगत इति वस्तुतस्ते न महादेवा। नामनिक्षेपविषयताया यादृच्छिकत्वात्तादृशमहादेवाद्विष्टाऽसिद्धे। अर्थक्रियाकारित्वाद्भावतो महादेव एव महादेव। किञ्चाऽन्यैर्दुर्जेय यो जयति स एवेतराऽपेक्षयोत्कृष्टगुणवैशिष्ट्यान्महत्त्वास्पदम्। यदुक्तम्—"अरक्तो भुक्तवान्मुक्तिमद्विष्टो हतवान् द्विष। अहो महात्मना कोऽपि महिमा लोकदुर्लभ" इति। रागादिपरतन्त्राणा देवाना रागादिजेता महानिति वीतराग एव भावतो महादेवो नाऽन्ये। यद्वक्ष्यत्यनुपदमेव—"शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासन" इति भाव ॥ ५ ॥

ननु नामभावमहादेवयो कतरस्तवेष्ट इति चेत्तत्राऽऽह—

**शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः।**
**शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥**

शब्दमात्र इति। **लौकिकानाम्**=लोका एव लौकिकास्तेषाम्, साधारणजनाना वस्तुतत्त्वग्रहणाऽपटूनामित्यर्थ.। लौकिकमर्थं बहु मन्यमानानामिति यावत्। **मते**=सिद्धान्ते, शासने इत्यर्थ.। स्वर्गादिमात्रसाधनहिंसादिसाध्ययज्ञादिप्रतिपादके शास्त्रे इति हृदयम्। **मत:**=इष्ट प्रतिपादितश्च, **महादेव:**=महादेवाऽभिधो देव, **शब्दमात्र:**=शब्द एव, शब्दत एवेत्यर्थ। न तु तत्र महादेवपदार्थो महादेवगुणो वा, रागादिसत्त्वान्महत्त्वाऽभावात्। यदुक्तम्—"स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते लघवस्तृणतूलवत्। महाश्चर्यं तथाप्येते मज्जन्ति भववारिधावि"ति "तूल तृणादपि लघु तूलादपि हि याचक। वायुना किं न नीतो-

ऽसौ नामसं नार्यमित्यत्री "ति च । एवञ्च मन्महत्त्वाऽभावेऽपि महादेव उच्यतेऽसो नामनिक्षेपविषय एवेति शब्दमात्र एव, न तु भावनिक्षेपविषयत्वाद्वास्त इति तात्पर्यम् । ननु तर्हि महादेव. क पारमार्थिको मत इति चेत्वाह — जिनशासने=भवति रागादीनिति जिनस्तस्य तदुपदेशलाभस्मनन्निति शासने शासे जैनमतमत इत्यर्थः । युक्ततः= महादेवपदबोध्यत्वाच्छब्देन कृत्वा, सार्वविभक्तिकस्तस् । गुणतः= ज्ञानेन्द्रियप्रमपीतरागत्वादिर्गुणैः कृत्वा, चैवेति समुच्चये । मत एव अर्थतः=महांश्चासौ देवश्चेत्यर्थसद्भावेन कृत्वा अपि:=समुच्चये । एवञ्च जिनशासनमतो महादेव एव भावनिक्षेपविषयत्वाद्वास्तवो महादेव इति लौकिकमताऽपेक्षया परमार्थतो वस्तुमाहिरत्वैशिष्ट्याल्लोकोत्तरं जिनशासनमिति मन्यते । एवञ्चाऽन्यतीर्थसम्मतो महादेवो महादेव गुणस्य महादेवपदार्थस्य चाऽसत्वात्र स इष्टः किन्तु जिनशासनसम्मत एवति स एवाऽऽश्रयणीय इति भावः ॥ ६ ॥

प्रागुक्तं गुणतोऽर्थतश्चेति तदेव कतिभिः श्लोकै र्विशदयति —

शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानाल्लक्षणात्तथा ।
मोहजालं हतं येन महादेव स उच्यते ॥ ७ ॥

शक्ति इति । येन=यद्देवेन देवेन, मोहजालम्=मोहो ऽस्ते स्मृतिः प्रगुक्तम् — 'अनित्यमनदेहादौ नित्यत्वेन ममेति च । अज्ञानेनाऽऽकृता बुद्धिर्मोह इत्यभिधीयते इति । स एव संसारे जालमिवन्तनसाधनमिति भावम् मोहस्य जालं परम्परा वा हतम्= विनाशितम् येन मोहस्यक इति सारार्थ । सः=महान्सो देव ,

**शक्तितः**=निजात्मवीर्यविशेषतः, वीतरागस्य क्षायिकाऽनन्तवीर्यवत्त्वादिति भावः। **व्यक्तितः**=सहजाद्यतिशयविशिष्टतया स्वीयेतरविलक्षणाऽसाधारणाऽलौकिकव्यक्तित्वमपेक्ष्य, चैवेति समुच्चये। **विज्ञानात्**=विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वादनन्तत्वाद्विशुद्धत्वाच्चेतराऽपेक्षयोत्कृष्टं यज्ज्ञानं तस्मात्, केवलज्ञानाद्धेतोरित्यर्थः। **तथा**=पुनः, **लक्षणात्**=सुरासुरनमस्यत्वादिरागद्वेषजयादिरूपमहादेवलक्षणस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य च सद्भावाद्धेतोश्च, **सः**=तादृशो मोहजालहन्ता देवः, **महादेव उच्यते**। यो वीतमोहोऽनन्तवीर्यः सातिशयव्यक्तिर्विज्ञानवान्, अत एव महादेवलक्षणोपेतश्च स महादेव उच्यते, इतरस्तु शब्दमात्र इति सारार्थः। यद्वा येन विज्ञानात्स्वीयविशिष्टज्ञानबलाच्छक्तितो निजात्मवीर्यविशेषबलाच्च मोहजालं व्यक्तितो व्यक्त्या, प्रत्येकं व्यक्ति यथास्यात्तथा, अयं मोहोऽयं मोह इत्येवं प्रतिव्यक्ति शृङ्गग्राहिकया गृहीत्वेत्यर्थः। मोहसमूहसम्बन्धिन्यः सर्वा एव व्यक्तय इति यावत्। हतम्, स लक्षणात्सकलमोहहन्तृत्वरूपाऽसाधारणधर्मात्मकलक्षणहेतोर्महादेव उच्यत इत्यर्थः। न तु तीर्थान्तरीयदेववद्भार्यावियोगादिना क्षणं विरक्तः, स्वभार्यायां पार्वत्यां दक्षयज्ञे मृतायां महादेवो विरक्तस्तपस्तेपे, पुनश्च दारपरिग्रहः कृत इति पौराणिका इत्यनुसन्धेयम्॥ ७॥

इदानीं मदलोभजयाख्यगुणेन स्तुवन्नाह—

**नमोऽस्तु ते महादेव! महामदविवर्जित!**
**महालोभविनिर्मुक्त! महागुणसमन्वित!॥ ८॥**

मम इति । महामदविवर्जित !=मदै र्ज्ञानाद्युत्कर्षाऽभिमानजनितौद्धत्यैर्विवर्जितो रहित महान् ज्ञानाद्युत्कर्षादिरूपमदस्तस्य साकल्येऽपि साकल्येन सद्रहितत्वात्सर्वाधिकश्चाऽसौ मदविवर्जितश्च स तादृश, यद्वा महान् अन्यापेक्षयाऽप्यधिको यो मदस्तेन विवर्जित, तत्सम्बोधने, यो महता मदेन विवर्जित सोऽल्पेनाऽपि तेन विवर्जितो भवत्येवेति सर्वविधमदविवर्जितत्वात्सर्वाधिको मदविवर्जित स एवेति निर्मदश्चेत्य इत्यर्थः । देवान्तर तु श्मशानादिनिवासान्नृत्यादिभिर्वेशाद्यपमिमानेन हिंसादिमत्त्वाच्च मदवां माऽस्तिकामतीति न स महादेव इति हृदयम् । " चित्तोद्रेक स्मये मद " इत्यमरः । तथा, महालोभविनिर्मुक्त !=लोभ. परस्वग्रहणेच्छा, तेन विनिर्मुक्तो रहित:, निर्लोभ इत्यर्थ । निष्परिग्रहत्वादिति भावः । महान् साकल्येन लोभ रहितत्वात्सर्वश्रेष्ठो लोभविनिर्मुक्तः, यद्वा महद्भिर्देवेभ्यादेयाद्याऽल्पत्यादिविवेकपरिहारेण महारम्भादिमयोऽमकत्वादयत्नुत्कटैर्लोभैर्विनिर्मुक्त, तत्सम्बोधने । महता लोभेन रहितोऽल्पेनाऽपि तेन रहितो भवत्येवेति सर्वविधलोभरहित इत्यर्थ । न तु देवान्तरवद्द्रव्यपूजादिना प्रसद्यमानत्वादिनाऽनुमेयलोभगन्ध इति हृदयम् । अत एव, महागुणसमन्वित !=महद्भिरन्यैरसाध्यै निर्मदत्वनिर्लोभत्वादिभिस्तथा सर्वभूतोपकारित्वादिभि. सर्वोत्कृष्टविशुद्धज्ञानादिभिश्च गुणै र्वैशिष्ट्यै: समन्वित सहितः, यद्वा महान् निर्मदत्वादिभिस्सर्वोपकारैर्गुणैः कृत्वा सर्वोत्तमश्चाऽसौ गुणसमन्वितश्च स तत्सम्बोधने । गुणिश्रेष्ठेत्यर्थः । अत एव च महादेव ! =महान् देवान्तराऽपेक्षयाऽधिकगुणत्वात्सर्वश्रेष्ठश्चाऽसौ देवश्च, तत्सम्बोधन । यो हि मदादिरहितो गुणवांश्च स महादेव, अन्यथा तु सर्वो

महादेव एव स्यादिति हृदयम्। ते=तुभ्यमेव तादृशाऽनुत्तमविशेषण-विशिष्टाय, न त्वनीदृशाय, सर्वं वाक्य सावधारणमिति न्यायादिति वोध्यम्। नमः=नमस्कारोऽस्तु, ममेतिशेष । मदादिराहित्याय गुणलाभाय च तादृशो महादेव एव नमस्करणीय उत्कृष्टत्वान्नाऽन्यादृशो-ऽपकृष्टत्वादात्महितेच्छुभिरिति तीर्थान्तरप्रसिद्धो महादेवो न केवलं शब्दमात्रोऽपि तु नमस्कारमपि नार्हतीत्याकूतम् ॥ ८ ॥

सम्प्रति पुन रागाद्यभावान्महादेवत्वमाह—

**महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।**
**कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥**

महाराग इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन भुवनाऽद्भुताऽतिशय-शालिना, **महारागः**=महान् गुरुतरो दुष्परिहरत्वाद्दृढतरश्चिरसह-चरत्वाद्वशीकृतजीवमात्रत्वाच्च दुर्जयश्च यो रागो विषयाऽनुरागो विषया-ऽऽसक्तिर्विषयेषु प्रीतिर्वा स तादृश, "रागोऽनुरागोऽनुरति"रिति हैमः । **महाद्वेषः**=महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो द्वेषोऽनिष्टेष्व-प्रीति. स तादृश, **तथैव चेति** समुदाय समुच्चये । **महामोहः**= महान् गुरुतरो दृढतरो दुर्जयश्च यो मोहोऽस्वे स्वबुद्धि', स तादृश', **कषायः**=क्रोधमानमायालोभात्मकाऽऽत्माऽशुभपरिणाम, **चः** समुच्चये । **हतः**=विनाशित, त्यक्त इत्यर्थ । रागादीना हि त्याग एव नाश इति वोध्यम्। न तु देवान्तरवन्निग्रहानुग्रहपरिग्रहादिनाऽनुमितरागादि-मानित्याकूतम्। परे देवा रागादीनपि हन्तुमप्रभवोऽय तु महारागा-दीनपि हन्तीत्यत एव, **सः**=तादृगमहारागादिहननसाधनाऽसाधारणा-ऽलौकिकाऽऽत्मवीर्यसम्पन्न, **महादेव** उच्यते । देवाऽन्तराऽसाध्य-

महारागादिहननादस्यैवोचितं महत्त्वम् । अनीशस्तु यथा देवान्तर-साधारण इति सम्यगाह स इति हृदयम् ॥ ९ ॥

सम्प्रति महाव्रतोपदेशादिना महादेवत्वमाह—

महाकामो हतो येन महाभयविवर्जितः ।
महाव्रतोपदेशी च महादेवः स उच्यते ॥ १० ॥

महाकाम इति । येन=यत्प्रकारेण देवेन, महाकामः=महान् असीममपि वस्तुनुत्कटतया गुरुतर उत्कर्षकारेण दुर्दमनः कामो भोगोपभोगेच्छा स तादृशः सर्वप्रकारश्च कामः, हतः=क्षमामयणेन विनाशितः, यो महान्तं कामं हन्ति सोऽस्य हन्तीति किमु वक्तव्यमिति सर्वविधकामहन्तेति भावः । न तु परतीर्थिकप्रसिद्ध महादेववत्कामं दग्ध्वाऽपि पुनस्तदुपभोगोऽप्यकामहन्तेति भावः । ननु निष्कामोऽपि देवान्तरवन्निर्भयो न भवेदिति चेत्तत्राह—महाभयविवर्जितः=महान् गुरुतरकारणप्रसूतत्वाद्दुर्निवारत्वात्मकं भयं मत भयमित्यर्थः । तदेव महद्भयं मृत्युरूपत्वात्, अन्यादृशं चौराद्यखिल-वादिभयं तु कथमपि संप्रयुक्तेनापि स्वल्पमेव, तेन विवर्जितो रहितः, क्षीणाऽशेषकर्मत्वात् सर्वथा निर्भय इति हृदयम् । महाभयरहितत्व हि न्यूनत्वं भयमपीति बोध्यम् । अत एव देवान्तराद्वैशिष्ट्यम् तस्य हि भवभयाऽनुच्छेदात् कथमन्यथा स्वाभिप्रायरक्षार्थमसुरादिनिग्रहमस्य पुराणादौ वर्णित इति भावः । लोकोपकाराऽपेक्षयाऽपि तस्य महत्त्व-मपेक्षितमित्याह—महाव्रतोपदेशी=महान्तौ व्रतानुपपारिकप्रसा-स्सर्वभद्र मनुष्यमहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्माऽपरिग्रहात्मकं चारित्रं तदुप

दिशतीत्येवशील, तादृशव्रतस्योपदेशोऽस्त्यस्य विधेयतया प्रतिपाद्यतया च वा सः, च समुच्चये। न तु बालतपोहिंसादिसाध्ययज्ञादिरूप-निकृष्टव्रतोपदेशीति भाव। **स महादेव उच्यते।** यस्त्वल्पकामहन्ता दारपरिग्रहादिना कामाधीनो वा भवमग्नतया भवभीतोऽल्पव्रतोपदेशी च शासनान्तरे प्रसिद्धस्तस्य तु देवत्वमप्यतिबहु, तस्मात्स महादेवः शब्दमात्र एवेति तात्पर्यम् ॥ १० ॥

अथ क्रोधादिजेतृत्वेन महादेवत्वमाह—

**महाक्रोधो महामानो महामाया महामदः ।**
**महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥**

महाक्रोध इति। **येन**=यत्प्रकारेण देवेन, **महाक्रोधः**=महानत्युत्कटो हिंसादिप्रवृत्तिप्रयोजकतयाऽतिचिरस्थायितयाऽनल्पश्च य क्रोधो विविधाऽनिष्टप्रयोजकतया स्वसजातीयेषु गुरुतरः कोप, तथा, **महामानः**=महान् गुर्वादिष्वप्यवज्ञाप्रयोजकत्वादतिमात्रो यो मानो मम जात्यादिक सर्वाऽधिक नाऽन्य कोऽपि मादृश इत्येव जातिकुलैश्वर्य-विद्याद्यभिमान, स। "गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिरि"-त्यमर। तथा, **महामाया**=महती परैर्दुर्ज्ञेयत्वाद्दुष्पारा या माया शाठ्य मिथ्याव्यापारेण परवञ्चनादिरूप सा। "माया तु शठता शाठ्यमि"ति हैम। **महामदः**=महान् अविनयादिप्रयोजकत्वाद्दुस्तरो यो मदो बलैश्वर्याद्यधिक्यभावनाजनितचित्तोद्रेक, स। अत्यधिक-मौद्धत्यमित्यर्थ। "चित्तोद्रेक स्मयो मद" इत्यमरः। तथा **महालोभः**=महान् स्वल्पेऽपि वस्तुनि महाजनादियाच्ञादिप्रयोजकत्वादतिलघुत्व-

सम्पादकत्वाद्धनधान्यादिमात्रस्य यो लोभः परस्वग्रहणेच्छा, स । सर्वत्र क्रोधादौ महत्त्वविशेषणादस्य दुर्जयत्वमन्यैरस्मत्तैर्गम्यते । इतः= क्लिनाशित, परिहृत इत्यर्थः । महामायेत्यनेन स्वस्य इतेति क्लिष्ट विपरिणामेनान्यो बोध्यः । निष्कषायो निर्मलश्च यो देव इति सारार्थः । स महादेव उच्यते । न त्वसुरादिहननादुपनीतमहत्त्वेन सम्पन्नोऽहमेव सर्वमहानिति भावनया महामानी रूपपरिवर्तनादिना परवञ्चकत्वाण्डवादिप्रसक्तत्वान्महामदः पूजोपहारादिग्रहणादिनाऽनुमित महालोभः पुराणादौ समासेनोपवर्णितः परेष्टो देवः । तथा क्रोधादि रपि परस्य दुर्जयः, यस्य तु महाक्रोधादिरपि सुजयः, सोऽप्यस्ति महादेवः स एव च महादेवः । येन च महाक्रोधादिर्हन्तव्यस्य क्रोधादि हननं क्रियते सर्वथा सर्वदा च क्रोधादिरहितस्याजिनशासनेशो देव एव महादेवोऽन्यस्तु नाममात्र इति भावः ॥ ११ ॥

प्रकारान्तरेणापि जिनस्यैव महादेवत्वमित्याह—

महानन्ददये यस्य महाज्ञानी महातपाः ।
महायोगी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

महानन्देति । यस्य=भास्वतः देवस्य, महानन्ददये= साधनाऽनपेक्षनिरुपाधिनिर्विकल्पकस्वात्मविषयकोऽनन्तो वा सर्वेभ्योऽधिकः, तथा महती निष्कारणत्वात्सर्वजीवविषयत्वादलौकिकी सा दया च ते च आनन्दः सुखं दयाऽन्यजीवदुःखप्रहाणेच्छा च स च महानन्ददये, तयो स इत्यर्थस्तत्राभ्यस्ते । महानन्दा दया यस्येति वा विग्रहः । तथा सति महानन्दो दया च ।दया च यस्येत्यर्थः । अत्र महानादयमा अनु

त्कमपि महत्त्व गम्यते । -महानन्दादिसमर्थनक्षमं गुणान्तरमप्याह—
**महाज्ञानी**=महदनन्तत्वात्सर्वविषयत्वात्सर्वाधिक क्षायिकत्वात्सर्वविशुद्ध च यज्ज्ञान केवलज्ञान तदस्त्यस्येति स तादृश, सर्वज्ञ इत्यर्थ । यो महाज्ञानी तस्यैव महानन्ददये इति भाव । अनरवन्ति चक्राणीतिवत्कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बोध्य । हेतुद्वारकेण विशेषणेन ज्ञान समर्थयन्नाह—**महातपाः**=मह-परैरसाध्यत्वान्निरन्तरत्वान्निर्दुष्टत्वान्महाफलत्वाच्च सर्वोत्कृष्ट सर्वविशुद्धं सर्वाधिक च तपोऽनशनादिरूप यस्य स तादृश, ज्ञानतपसो फलमाह—**महायोगी**=महान् सर्वाऽतिशयमूलतयाऽलौकिकतयाऽसाधारणतया सर्वकर्मक्षयप्रयोजकतया चाऽनुपम. सर्वोत्कृष्टो निरन्तर प्रवृत्तोऽसाधारणो योगश्चारित्र समाधिर्वा यस्य स, योगीन्द्र इत्यर्थ· । यदुक्तम्—"स एष योगसाम्राज्यमहिमा विश्वविश्रुत । कर्मक्षयोत्थो भगवन्! कस्य नाऽऽश्चर्यकारणम्?" इति । ज्ञानतपसोर्महायोगलाभ. फलमिति कृतार्थत्वं ध्वन्यते । **महामौनी**=महत् सर्वविलक्षणत्वात्सर्वोत्तमत्वादभङ्गुरत्वाच्चाऽसाधारणत्वाच्च सर्वश्रेष्ठं यन्मौन वाचयमता, तदस्त्यस्येति स । प्रियपथ्यतथ्यमितवाक्यं हि पारमार्थिक मौनम्, वाङ्निरोधश्च शब्दार्थमात्रम्, वाङ्निरोधात्मकमौनस्य हि सदुपदेशादिविरोधितया लोकहिताननुगुणत्वादिति ध्येयम् । किञ्च महत्सर्वाऽतिशायि यन्मौन मुनित्व मुनेर्भावः कर्म च, तदस्त्यस्येति स., महाज्ञानचारित्रसम्पन्न सम्यक्त्वसम्पन्नश्चेत्यर्थ.। यदुक्तम्—"सम्यक्त्वमेव तन्मौन मौन सम्यक्त्वमेव वे"ति बोध्यम् । **स महादेव उच्यते ।** लौकिकाऽनन्दमग्नो निर्दयोऽल्पज्ञोऽल्पतपा बाल्योगी मायामौनव्रती

लोकहिंसाऽननुगुणमौनी च परस्मात्तो देव इति स सर्वमान्य इति मे निश्चितम् ॥ १२ ॥

सम्प्रति वीर्यादिमहत्त्वान्महादेवत्वमाह—

महावीर्यं महाधैर्यं महाशीलं महागुणः ।
महामञ्जुक्षमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥

महावीर्यमिति । यस्य = यादृशस्य देवस्य, महावीर्यम्= महदसाधारणत्वादलौकिकत्वात्स्वाभाविकत्वादनन्तत्वाच्चाऽन्यस्य सर्वाधिकं सर्वोत्तमं च महद्वीर्यं सामर्थ्यम् उत्साहः, तत् । महाधैर्यम्=महदप्युपसर्गादावप्यविचलितत्वादनन्यसाधारणत्वादलौकिकं सर्वाधिकं यद् धैर्यमक्षोभ्यस्वभावताऽनुद्वेगश्च तत् । महाशीलम्=महदसाधारणत्वादलौकिकत्वादनन्यसाध्यत्वात्समत्वाच्च सर्वोत्तमं यच्छीलं चारित्रं तत् । महागुणः = महान् महद्भिरपीन्द्रादिभिः स्पृहणीयत्वादसाधारणत्वाद् अलौकिकत्वात्सर्वोपकारकत्वाच्च सर्वोत्कृष्टो यो गुणो विशेषणं सर्वज्ञत्वसर्व-मादिर्यस्यास्ति स । महामञ्जुक्षमा=महती शक्तौ सत्यामप्यपकारिष्वपि भावादसाधारण्यलौकिकी च अत एव मञ्जु मनोरमा च या क्षमा तितिक्षा सा । 'तितिक्षा क्षान्तिः क्षमे'ति "मञ्जुमञ्जुलमनोरमाणि चे"ति च हैमः । सामर्थ्यात्समुच्चयो गम्यते । एवमेतानि यस्य, स महादेव उच्यते । न त्वन्यदेवस्य परस्वकार्यत्वादल्पवीर्योऽस्ते-माऽपि क्षोभ्यत्वादधैर्यो दारादिपरिग्रहादिना स्पष्टितशील गुणाऽ-गुणवत्याऽऽहावादिमत्त्वादल्पगुणोऽल्पक्षमोऽप्यपराधे निग्रहोपक्रमत्वात्सहनः,

प्रसिद्धं चैतत्सर्वं तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य महादेवस्य पुराणादौ। तस्माच्छब्द-मात्रो महादेव परशासन इति भाव ॥ १३ ॥

अथ स्वयम्भूशब्दार्थनिर्वचनेन कृत्वा जिनशासनप्रतिपादितस्य महादेवस्यैव स्वयम्भूपदवाच्यतेत्याह—

**स्वयम्भूत यतो ज्ञान लोकाऽलोकप्रकाशकम् ।**
**अनन्तवीर्यचारित्र स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥**

स्वयम्भूतमिति। **यतः**=यस्य देवस्य, सार्वविभक्तिकस्तस्। यस्माद्धेतोरिति वा। **लोकालोकप्रकाशकम्**=लोकस्य चतुर्दशरज्जु-प्रमाणस्य जगतोऽलोकस्य लोकबहिर्भूतस्य च यावत आकाशप्रदेशस्य प्रकाशक परिच्छेदकम्। यद्यपि लोकाद्बहिर्भूत न किमपि ज्ञेय तथापि यदि स्यात्परिच्छिद्येतेति सम्भावनया महत्त्वद्योतनाय तथोक्तिरिति बोध्यम। **ज्ञानम्**=केवलज्ञानम, तज्ज्ञान हि क्षायिकमिति निरावरण-त्वाल्लोकालोकप्रकाशकमिति बोध्यम्। **स्वयम्भूतम्**=स्वयमात्मना परोपदेशादिक विनैव भूत प्राप्तमाविर्भूत वा। कर्मक्षये हि मेघापगमे सूर्यवज्ज्ञान स्वयमेवाऽऽविर्भवति। किञ्च जिनाना क्षयोपशमवशाज्जन्मत एव ज्ञानत्रयसमन्वितत्व निसर्गत एवेति बोध्यम्। तथा, **अनन्तवीर्य-चारित्रम्**=अनन्त क्षायिकत्वादेवाऽविनश्वर वीर्यं सातिशय उत्साहश्चारित्र शील च, **सः**=यतो यस्यैतानि, तत एव तादृशो देव, **स्वयम्भूः**= स्वयम्भूरित्येवम्, **अभिधीयते**=गीयते। ज्ञानस्य स्वयम्भूतत्वादेव स्वयम्भू, न तु परदेववदज्ञातजन्मत्वादिनाऽल्पज्ञानवीर्यचारित्र· स्वयम्भूः। एवञ्च लौकिकानां मते स्वयम्भूरपि शब्दमात्र·, जिनशासने तु गुणतः शब्दतोऽर्थतश्चेति तात्पर्यम् ॥ १४ ॥

ननु भगवता ऋषभतोऽर्हतश्च जिनशासन इत्युच्यते स किमभिध इत्यपेक्षायामाह —

शिवो यस्माज्जिनः प्रोक्तः शङ्करश्च प्रकीर्तितः ।
कायोत्सर्गी च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जित ॥ १५ ॥

शिव इति । यस्मात्=यतो हेतो, जिनः=जयति रागादीनिति जिनस्तीर्थङ्कर ऋषभनाथादि । कायोत्सर्गी=काय शरीरमुत्सृज्यते स्वस्वेन व्याप्यते नासाग्रनिमतस्थिरदृष्ट्या यत्र स कायोत्सर्गो मुद्राविशेष, सोऽस्त्यस्येति स उत्थितस्य सत स्वशरीरनासाग्रनिक्षस्थिरदृष्टिा स्वकस्थितिविशेषमाश्रित इत्यर्थ । तथा, पर्यङ्की=पर्यङ्कासनस्थित, तल्लक्षणं यथा— स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरिकृते सति । पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिक " इति । समाधिस्थ इत्यर्थ. । जिनाश्चैते कायोत्सर्गी समाधौ च पर्यङ्कीत्येवं कालभेदेनाऽवस्थाभेदेन बोधबोधसत्त्व बोध्यम् । स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः=स्त्री दाराश्च शस्त्रमायुध यादिना वाहनभूष्यादि च तैर्विनिर्मितो रहित., निष्परिग्रह इति भावद् । यदुक्तम्— वपुश्च पर्यङ्कस्थं श्लथं च दृशौ च नासानियते स्थिरे चे''ति, न शूलचापचक्रादिसम्बाहकरपल्लव । माङ्गनाकमनीयाङ्गपरिश्वङ्ग परायण इति न पक्षिपशुसिंहादिवाहनाऽऽसीनविग्रह ' इति च । च:=समुच्चये । मन्मथचक्राद्यस्मादि वि भाव्यते । शिव =शिव इत्यभिध्या प्रोक्त =भगीन शङ्करः=शं कल्याणं करोतीति स तादृश, च समुच्चये । प्रकीर्तित = वर्ण्यत । यस्माविसदिशोऽस्माद्दित्थेता असुदितयपुशासितोऽमियतश्च शसपारणादेरन्यथा निष्प्रकाशमार्थेति

परतीर्थेष्टो देवो न शिवो नाऽपि शङ्कर., किन्तु शब्दमात्रेण स शिवः शङ्करश्च । गुणतोऽर्थतश्शब्दतश्च जिन एव तादृश इति तात्पर्यम् ॥१५॥

परतीर्थप्रसिद्धस्य महादेवस्य साकारनिराकारत्वादि यद्वर्ण्यते, जिनशासनेष्टस्याऽपि तत्तथैवेति न तावताऽपि तस्य वैशिष्ट्यमित्याह—

**साकारोऽपि ह्यनाकारो मूर्त्तोऽमूर्त्तस्तथैव च ।**
**परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥**

साकारोऽपीति । **सः**=जिनशासनेष्टो महादेव., **हि**=यत-, **साकारः**=ससाराऽवस्थाया शरीरित्वादाकारेण यथाक्रमसन्निविष्टाऽङ्गादिघटिताऽऽकृतिविशेषेण सहित, शरीरीति यावत् । ससारीति हृदयम् । न तु देवान्तरवदवतारग्रहेण तथा, मुक्तस्य जन्मग्रहणाऽयोगात् । जन्मादितो मुक्तिरेव हि मुक्तिरिति बोध्यम् । अत एव, **मूर्त्तः**= निश्चयनयेनाऽऽत्मन· स्वभावतोऽमूर्त्तत्वेऽपि संसाराऽवस्थायां कर्माऽष्टकोपगूढाऽऽत्मप्रदेशत्वाच्छरीराऽधिष्ठितत्वाच्च व्यवहारनयेन कथञ्चिद्रूपी, **अपिना** साकारस्याऽनाकारता विरुध्यत इति सूच्यते । अपेक्षाभेदेन त्वविरोध इति बोध्यम् । **तथैवे**ति समुच्चये । **अनाकारः**= सिद्धावस्थाया कर्मणां साकल्येनाऽभावाच्छरीराद्यभावादविद्यमान आकार उक्तप्रकाराऽऽकृतिर्यस्य स तादृश., अशरीरीत्यर्थ· । मुक्त इति यावत् । **चो**=हेतौ, यतोऽनाकारोऽत एव, **अमूर्त्त**=अरूपी, कर्मसम्बन्धाऽभावात्कथञ्चिन्मूर्त्तत्वस्याऽप्यभावादिति भाव । एतेन परेष्टदेवस्य यथा साकारनिराकारत्वादि तथा जिनशासनेष्टदेवस्याऽपीति न तावता कस्यचिदेकस्याऽपि न्यूनत्वमुत्कर्षो वा वर्णयितुं शक्यत इति सूच्यते । जिनशासने

महादेवस्य परमात्मत्वादिकमप्याह—परमात्मा, बाह्यात्मा, तथैव अन्तरात्मा च। स महादेव इति प्रकरणाल्लभ्यते। परमात्मत्वमिह मनुष्यभवे स्वयमेवोपपादयिष्यते इति ध्येयम्। एवञ्च साकारनिराकारत्वादिना न केवलं परतीर्थिकस्य महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यम्, जिनशासनेशस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च। अस्तु नामात्र तर्हि गुणानां सत्त्वसाम्यमेव। किन्तु मत्कान्तं दर्शनं मत्स्येत्यादिना वर्णितं वैशिष्ट्यं तु जिनशासनेशस्य महादेवस्यैवेति परतीर्थिकमहादेवस्य न्यूनता तदवस्थैवाऽव्यापीति बोध्यम् ॥ १६ ॥

*यदुक्तं 'परमात्मा च बाह्यात्मे'त्यादि, क्रमशस्तत्स्वरूपमभिधित्सुरादौ* परमात्मत्वमेवाह—

> दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्ययः ।
> परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि। अयम्=प्रस्तुतो जिनशासनेशो महादेवः, अव्ययः=अविनाशी, आत्मनो द्रव्यत्वेन नित्यत्वादिति भावः। दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं क्षायिकं केवलदर्शनं सामान्यज्ञानात्मकं उपलक्षितं त्रिलोकतत्त्वेषु श्रद्धानात्मकं सम्यक्त्वं च, ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानं स्याद्वादाऽभिमताऽनेकान्तात्मकयथावस्थितवस्तुतत्त्वज्ञानं च, तयोः स्वस्मिन् योगः सम्बन्धः आत्मनो दर्शनज्ञानस्वरूपपरिणाम इति तत्त्वम्, तेन हेतुना। जिनस्य हि जन्मत एव दर्शनज्ञानत्रययुक्ततया दीक्षानन्तरं घातिकर्मक्षये केवलदर्शनज्ञानयुक्ततया योग्यात्मा, यद्वा दर्शनज्ञानयोगेन, अव्ययः=जन्ममरणाद्यपायरहितत्वादविनाशी

निर्विकारो निर्गुण इत्यर्थः । **परमात्मा**=परमो ज्ञानादिगुणोत्कर्षात्सर्वोत्कृष्ट पञ्चप्रकृतिरुत्तमोत्तम आत्मा । एतेन नहि निर्हेतुक परमत्वमात्मनोऽपि तु परमज्ञानादिगुणोत्कर्षात । अत एवोक्तगुणसद्भावाज्जिन एव वस्तुतः परमात्मा । तीर्थान्तरप्रसिद्धस्य च महादेवस्य परिग्रहेण रागादिमत्त्वनिश्चयान्मत्यज्ञानादिकमेव, पुराणादितस्तस्यैकान्तात्मकवस्तुस्वैरेवाऽवगमादिति तस्य परात्मत्व शब्दमात्रमिति समर्थितम् । यद्वाअय जिनशासनेष्टो महादेवो ज्ञानदर्शनयोगेन कृत्वा, **अव्ययः**=न व्येति परात्मत्वतोऽपगच्छति=दर्शनज्ञानादिना रहितो भवति, जन्मत एव ज्ञानत्रयादियुक्तत्वादित्यव्ययः परमात्मा । सर्वविशुद्धज्ञानादितो ह्यात्मन. परमत्व न तु वाङ्मात्रतः, ज्ञानादि चाऽस्य जन्मत एवेत्ययमव्ययः परमात्मा परमात्मत्वतो न कदापि हीयते । परेष्टदेवस्तु लौकिकेषु विशिष्टज्ञानादिना वाढं परमात्मा गीयताम्, न त्वव्यय. परमात्मा । अवताराद्यवस्थाया लौकिकविशिष्टज्ञानस्याऽप्यभावादिति जिनशासनेष्टो देव एवाऽव्यय परमात्मेत्याशयः । ननु "य सर्वज्ञः सर्वविदि" त्यादिना परेष्टदेवस्याऽपि सर्वज्ञत्वादिकमिति तस्यापि परमात्मत्व पारमार्थिकमेवेति चेत्तत्राह—**परेति** । यस्येत्यर्थबलाल्लभ्यते । यस्याऽत्मनो महादेवस्य, **परा**=सर्वाधिका सर्वोत्कृष्टा च, मित्रद्वेषिसाधारणत्वात्परां काष्ठामापन्नेत्यर्थ. । **क्षान्तिः**=क्षमा, निग्रहसामर्थ्ये सत्यपि वीतरागत्वादपराधादिसहनमित्यर्थ । यदुक्तम्—"हिंसका अप्युपकृता" इति, "कृताऽपराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः । ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्र श्रीवीरजिननेत्रयोरि"ति चेति भाव । **अहिंसा**=प्राणातिपातनिवृत्तिः, चेन परेति सम्बध्यते । सर्वजीवविषयत्वात्सर्वसावद्यविरतत्वाच्च परा

महादेवस्य परमात्मत्वादिकमप्याह—परमात्मा, बाह्यात्मा, तथैव अन्तरात्मा च । स महादेव इति प्रकरणाल्लभ्यते । परमात्मत्वमिह मनुष्यत्वमेव स्वयमेवोपपादयिष्यते इति ध्येयम् । एवञ्च साकारनिराकारवादिना न केवलं परतीर्थिकस्य महादेवस्य किमपि वैशिष्ट्यम्, जिनशासनेष्टस्य च तस्य काऽपि न्यूनता च । प्रस्तुतोभयत्र तेषां गुणानां सत्त्वस्यासाम्यमेव । किन्तु यथान्वेषणं यस्येत्यादिना वर्णितं वैशिष्ट्यं तु जिनशासनेष्टस्य महादेवस्यैवेति परतीर्थिकमहादेवस्य न्यूनता तत्रत्यैवाऽव्यापीति बोध्यम् ॥ १६ ॥

यदुक्तं 'परमात्मा च बाह्यात्मे'त्यादि, क्रमशस्तदुपपादयिष्यन्नादौ परमात्मत्वमेवाह—

दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्ययः ।
परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥

दर्शनेत्यादि । अयम्=प्रस्तुतो जिनशासनेष्टो महादेवः अव्ययः=अविनाशी, आत्मनो द्रव्यत्वेन नित्यत्वादिति भावः । दर्शनज्ञानयोगेन=दर्शनं क्षायिकं केवलदर्शनं सामान्यज्ञानात्मकं तथाविधं त्रिलोकतत्त्वेषु श्रद्धानात्मकं सम्यक्त्वं च, ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानं स्याद्वादाऽभिमताऽनेकान्तात्मकत्वावसितवस्तुतत्त्वज्ञानं च, तयो स्तस्मिन् योगः सम्बन्धः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मना परिणाम इति यावत्, तेन हेतुना । जिनस्य हि जन्मत एव दर्शनज्ञानत्रययुक्ततया दीक्षानन्तरं घातिकर्मक्षये केवलदर्शनज्ञानयुक्ततया चेत्थमव्ययः, यद्वा दर्शनज्ञानयोगेन, अव्ययः=जन्ममरणाद्यपायरहितत्वादविनाशी

=पूर्वशरीरत्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्प्राक्च त्यक्तग्रहीष्यमाणभवयोरन्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत्। बाह्यात्मा=बहिर्भवो बाह्य स चाऽसावात्मा च स तादृश, विग्रहगतौ ह्यौदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च रहितत्वरूपबहिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति स भवान्तरे बाह्यात्मेति भाव। भवेदिति सम्बध्यते। तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानावस्थायाम्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेदितीहाऽपि सम्बध्यते। देहे तिष्ठन् ह्यात्मा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति बोध्यम्। इति=एवम्प्रकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाधिभेदात्त्रिप्रकार., भवेदिति सम्बध्यते। एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यमस्यैव युक्तियुक्तम्। ततश्च नाऽन्यो वैशिष्ट्यमन्यदेवस्येति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्वादिकमप्याह—

**सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।**
**पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥**

सकल इति। स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाल्लभ्यते। दोषसम्पूर्णः=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकल. सन्, भवस्थतादशाया हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्यस्मिन् भवे इति तदा स दोषसम्पूर्ण.। अत एव, सकलः=कलाभिर्भवावस्थाभाविगुणै सहित. सकल:, सगुण इति यावत्। आत्मा हि धृतदेहाद्युपाधि सगुण सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम्। दोषवर्जितः=दोषैरुक्तप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल–

काष्ठाप्राप्तत्वात्सर्वात्मिका सर्वोत्कृष्टा च, सः=तादृशो देवः, परमात्मा =परमः परमक्षान्त्यहिंसादिसद्भावात्सर्वश्रेष्ठश्चासावात्मा च स तथा, उच्यते=वर्ण्यते । आत्मनां नित्यत्वेन तु साम्यमेव, किन्तु यत्र यस्य गुणोत्कर्षः, स तदपेक्षया तारतम्येन व्यपदिश्यते । अतएव परमक्षान्त्यहिंसाद्यभावादात्मा परमात्मेत्युच्यते । यद्येवं महादेवस्तु सत्स्वपराधेऽप्यसहनो दक्षयज्ञनाशकोऽसुरादिहन्ता चेति तस्य सत्त्वक्षान्त्यहिंसादेरप्यभावात्, तद्गुणो वस्तुनाप्यभावश्चेति स कस्मान्न परमात्मा न तु वस्तुत । परमार्थतस्तु परमात्मोक्तगुणसद्भावाज्जिननामेशो महादेव एवेति हृदयम् । अत्र च पूर्वार्धेनाऽसंशयमवसातव्योत्तरार्धेन च संसारस्वरूपस्य परमात्मत्वनिपातने तात्पर्यमित्यपि बोध्यम् ॥१७॥

यदुक्तं "परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च" इति । तत्र विरोधं परिहरन्नेकस्याऽप्यात्मनोऽवस्थाभेदेन व्यपदेशं प्रतिपादयन्नाह—

परमात्मा सिद्धिप्राप्तो बाह्यात्मा तु भवान्तरे ।
अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येवं त्रिविधः शिवः ॥ १८ ॥

परमात्मेति । एषः=अस्तुतो जिनशासनः, शिवः=शिवपदवाच्यः भवान्तरदर्शनादिमान् जिनेश्वर इति हृदयम् । सिद्धिप्राप्तः=सिद्धिगमनं कार्त्स्न्येन कर्मक्षये सम्यक्त्वदर्शनादिगुणपरिणाम, मुक्तिरिति यावत् । तस्या प्राप्तो लाभः सति मुक्तौ भावाभावात्तस्य नित्यत्वे । परमात्मा=परमो गुणैः इतरापेक्षया काष्ठाप्राप्तत्वात्सर्वोत्कृष्टश्चासावात्मा च स तथा, भवेत्=भवन=सम्पद्यते । भवान्तरे

=पूर्वशरीरत्यागानन्तरमपरशरीरग्रहणात्प्राक्च त्यक्तग्रहीष्यमाणभवयोरन्तरे मध्ये, विग्रहगताविति यावत् । बाह्यात्मा=बहिर्भवो बाह्यः स चाऽसावात्मा च स तादृश, विग्रहगतौ ह्यौदारिकादिशरीरान्मुक्तेश्च रहितत्वरूपबहिर्भावादात्मनो बाह्यत्वमिति स भवान्तरे बाह्यात्मेति भाव । भवेदिति सम्बध्यते । तथा, देहे=शरीरे, शरीराधिष्ठानावस्थायाम्, अन्तरात्मा=अन्तर्मध्ये स्थित आत्माऽन्तरात्मा, भवेदितीहाऽपि सम्बध्यते। देहे तिष्ठन् ह्यात्मा देहस्याऽन्तरस्तीति व्यवहारादिति बोध्यम् । इति=एवम्प्रकारेण, त्रिविधः=एकोऽप्युपाधिभेदात्त्रिप्रकार, भवेदिति सम्बध्यते । एवञ्च परेष्टदेवस्य वर्णितमुक्तत्रैविध्यमस्यैव युक्तियुक्तम् । ततश्च नाऽतो वैशिष्ट्यमन्यदेवस्येति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

जिनशासनेष्टस्य महादेवस्य सकलत्वादिकमप्याह—

**सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ।**
**पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥**

सकल इति । स जिनशासनेष्टो महादेव इति प्रस्तावाल्लभ्यते । **दोषसम्पूर्णः**=दोषैर्जन्मजरादिभिर्दूषणैः सम्पूर्णोऽविकलः सन्, भवस्थतादशायां हि जिनात्मनोऽपि ते दोषा रागादयोऽपि च चरमादन्यस्मिन् भवे इति तदा स दोषसम्पूर्ण । अत एव, **सकलः**=कलाभिर्भवावस्थामाविगुणैः सहित. सकल, सगुण इति यावत् । आत्मा हि धृतदेहाद्युपाधि सगुण सकल इति वा कीर्त्यते इति बोध्यम् । **दोषवर्जितः**=दोषैरुक्तप्रकारैर्जन्मादिरागादिरूपैर्वर्जितो विनिर्मुक्तः, केवल–

दर्शनज्ञानचारित्रसम्पन्नत्वादिति बोध्यम् । निर्दोष इत्यर्थः । अत एव, पञ्चदेहविनिर्मुक्तः=पञ्च पञ्चसङ्ख्याका ये देहाः शरीराणि औदारिक-ऽऽहारकतैजसवैक्रियकार्मणाख्यानि तैः सकलकर्मक्षयान्मुक्तत्वादि-निर्मुक्तो रहित, मुक्त इति यावत् । नहि मुक्तिं विना सर्वशरीर-राहित्यमिति बोध्यम् । अत एव च, परमम्=सर्वोत्तमं सर्वोत्तमनिवासि च पदम्=स्थानम्, सिद्धशिलाख्यं स्थानमित्यर्थः । मुक्तानां तदाश्र-स्थानमित्यागमः । सम्प्राप्त=अधिष्ठित, स तादृश सन्, निष्कल=कलासम्बन्धिसर्वदोषरहितत्वात्कलमन्य उपक्रमपराभ्यो निर्गतो निष्कलः, निर्गुण इत्यर्थः । सर्वलौकिकोपाधिविनिर्मुक्त आत्मा निष्कलो निर्गुण इति वा गीयत इति ध्येयम् । एवञ्चाऽस्य सकलत्वादिकं युक्तियुक्तम् । परेशदेवस्य तु गुणत्रयमयत्वाद्रूपमात्रम् । कथमन्यथा तारादिपरिग्र-हस्य वर्णित सम्भवेत्, मुक्तस्य तद्योगादिति पारमार्थिकं सकलत्वा-दिकं जिनस्यैवेति तत्त्वम् ॥ १९ ॥

ननु परेशदेवस्य 'एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः" इति प्रशस्तिः, सा जिनस्यैवोपपद्यत इत्याह —

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥

एकमूर्तिरिति । एकमूर्तिः=एकाऽसहायाऽद्वितीया च केवला वा मूर्तिर्व्यक्तिः, एको जिनात्मैवेत्यर्थः । यद्वा मूर्तिराकृतिः, तदभेदा जिनाकृतिरेवेत्यर्थः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः=ब्रह्मा च विष्णुश्च महेश्वरश्च ते तथाऽऽख्याः, "ब्रह्माऽऽत्मभूः सुरज्येष्ठः" इति "विष्णुर्नारायणः कृष्णः"

इति, "शिव शूली महेश्वर" इति चाऽमरः ।  त्रय =त्रित्वसङ्ख्या-विशिष्टा, भागाः=अंशाः, एको महादेवाऽऽत्मैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यास्त्रयोंऽशा इति पौराणिका । ते च भागा जिनात्मन एवेति हृदयम् । ननु नैतत्प्रसिद्ध क्वाप्यागमादाविति चेत्तत्राह—ते=ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यो भागा, एव=नत्वन्ये, ज्ञानचारित्रदर्शनात्=ज्ञान केवल ज्ञान चारित्र क्षायिक दर्शन केवल दर्शनम्, तत., तदपेक्ष्येत्यर्थ, यल्लोपे पञ्चमी । इतरेतरयोगद्वन्द्वेऽपि "सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवती"ति परिभाषणादेकवचनम् । न च समाहारो युज्यते, ते इत्यनेन विशकलितव्यक्तित्रयपरामर्शादुद्भूताऽवयवभेदविवक्षाया अवगमादिति ध्येयम् । च =समुच्चये । पुनरुक्ताः=पुन प्रतिपादिता, भवन्तीति शेष । ब्रह्मादिशब्दैर्ये भागा उच्यन्ते त एव ज्ञानादिशब्दैरपीत्युक्ता अपि पुनरुच्यन्ते । ज्ञानादिरूपा एवाऽर्हतो महादेवात्मनो भागा पर्याया ब्रह्मादयो नाऽन्ये, ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादय एवेहेष्टा इत्यग्रे स्फुटी भविष्यति। तस्मादर्हन्नेव त्र्यात्मक. । परेष्टदेवस्य त्वेकस्या मूर्त्तेर्ब्रह्मादिमूर्त्तिर्भागो न युज्यते, एकमूर्त्तौ मूर्त्तित्रयसन्निवेशाऽयोगात्, तदनुपदमेवोपपादयिष्यत इति ध्येयम् ॥ २० ॥

ननु ब्रह्मादिशब्दैर्ज्ञानादयोऽर्था अप्रतीता इति चेत्साहश्यमूललक्षणयैव तथावर्णनमिति गृहाण । नन्वेव परे तथा न मन्यन्ते, किन्त्वेकस्या मूर्त्तेरेव तिस्रो ब्रह्मादयो व्यक्तयो भागा इत्येव तेषामाशय इति चेत्, अनुपपद्यमानत्वान्न तत्र रुचिरित्यतोऽनुपपत्तिमुपपादयन्नाह—

एका मूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
परस्परं विभिन्नानामेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥

एकामूर्तिरिति । मूर्तिः=देह, एका=असहायाऽद्वितीया, केवला वा "मूर्तिमत्करणकायमूर्तयो वेरसंहननदेहसम्पराः" इति हैम। 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा' इति विश्व । तत्र इत्यर्थमवलम्ब्यते । त्रयः=त्रित्वसंख्याविशिष्टाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः =ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यास्त्रिस्रो व्यक्तय, भागाः=अंशा कस्यचित् पदार्थस्येति शेष । अत्र विप्रतिपत्तिमाह—परस्परम्=अन्योन्यम्, विभिन्नानाम्=भेदवताम् नहि यो ब्रह्मा स एव विष्णु स एव महेश्वरो वाऽभिधानभेदत्वात्स्वरूपभेदाच्च, ततश्च ते परस्परं भिन्ना एवेति वाच्यानां तेषामित्यर्थ । एकमूर्तिः=एकाऽभिन्ना वा मूर्तिर्देहः, सा कथम्=केन प्रकारेण, भवेत्=स्यात्, एका नैव स्यादित्यर्थ । अभेदे हि मूर्तेरैक्यं संभवम् यथेन्द्रशक्रयो । भेदे च विभिन्ना मूर्तिर्यथा चैत्रमैत्रयो । भेदेऽपि मूर्तेरैक्ये जगद्विसंष्टुलं विपर्यस्तं वाऽऽपद्येत भेदश्च दुरुपपादः स्यात् । मूर्तिभेदे वाऽभेदस्य दुरुपपादत्वेऽस्मन्मतमुपसन्नमित्येकस्या व्यक्तेर्नाऽनेकाः व्यक्तयो भागा इति युक्तम् । तस्मात्प्रामाणिकदर्शनादेका व्यक्तित्रयो भागा इत्येव श्रद्धेयमिति भाव ॥ २१ ॥

अन्येऽस्या एव व्यक्तेर्मानि नानाऽभिधानानि, न तु परस्परं विभिन्नास्तिस्रो व्यक्तयो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इति चेत्तत्समाधत्ते-

मित्याह—

**कार्यं विष्णुः किया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।**
**कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥**

कार्यमिति । **विष्णुः**=विष्णुपदवाच्यो देव, **कार्यम्**=क्रियाजन्यफलाश्रय, कार्यस्थानीय इत्यर्थ । क्रियते यदिति कर्मव्युत्पत्तेरिति चोध्यम् । **ब्रह्मा**=ब्रह्मपदवाच्यो देव, **क्रिया**=व्यापारस्थानीय., द्वारमिति यावत् । **तु**र्विशेषे भेदे च । **महेश्वर.**=महेश्वरपदवाच्यो देवः, **कारणम्**=जनकस्थानीय. । महेश्वरप्रेरणया ब्रह्मण शरीराद्विष्णोः प्रादुर्भाव इति पौराणिककथाऽनुसन्धानेनेत्थमुक्तिरिति ध्येयम् । तदित्थम्, **कार्यकारणसम्पन्ना** =कार्यकारणभावमापन्नास्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्त्रयः, **एकमूर्त्ति** =अभिन्नतनु, **कथं भवेत्** ?=काका नैव कथमपि भवेदित्यर्थ । नहि पितृपुत्रयोरभिन्ना मूर्त्तिरिति कोऽपि सचेताः प्रतिपादयेत् । मूर्त्त्यभेदे च कार्यकारणभाव एव न स्यात्, तस्य व्यक्तिभेदनियतत्वात् । एवञ्चैकस्या एव व्यक्तेर्नानाऽभिधानानीति वाचोयुक्तेरप्यनवसर, एकव्यक्त्यभावात् । तदेव परोक्तदिशैकमूर्त्तिस्त्रयो भागा इत्यनुपपन्नमेवेति भाव ॥ २२ ॥

ननु यथा मृत्पिण्डस्यैकस्यैव कारणभूतस्य कपाल· क्रियास्थानीयो घटश्च कार्यस्थानीय इति वक्तुं शक्यम्, तथैकस्या एव व्यक्तेरवस्थाभेदात्त्रे त्रयो भागा इति चेत्तदपि नेत्याह—

**प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।**
**अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २३ ॥**

प्रजापतिसुत इति । ब्रह्मा=ब्रह्मसंज्ञको देवः, प्रजापतिसुतः=प्रजापतिनाम्नो द्विजस्य सुतः पुत्रः, "आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः" इत्यमरः । माता=जननी, ब्रह्मण इति सान्निध्यात्प्रतीयते । पद्मावती=तदाख्या प्रजापतिद्विजभार्या, स्मृता=प्रतिपादिता, पुराणेष्विति भावः । तथा, जन्मनक्षत्रम्=जन्मसमयुक्ते काले ब्रह्मणो जन्म तन्नक्षत्रं भम् 'नक्षत्रमृक्षं भं तारे' इत्यमरः । अभिजित्=अभिजिन्नामकम् । प्रजापतिभार्यायां पद्मावत्यां कुक्षौ ब्रह्माऽवतीर्ण इति पौराणिका इति भावः । तदेवं स्थिते, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नहि येषां विभिन्नौ मातापितरौ जन्मकालश्च भिन्नस्तेऽभिन्नमूर्तयो दृष्टाः श्रुता वा, मातापितृभेदे एकस्या एव व्यक्तेरसम्भवस्यैव प्रसिद्धत्वात् । किञ्च तथात्वाभेकत्वे प्रजापतिसुतो ब्रह्मणोऽवतार इति विशेषेण व्यपदेशो निर्हेतुक एव स्यादिति नैकमूर्तिरिति भावः ॥ २३ ॥

ननु त्रिमार्गैकैव मूर्तिरस्तीति चेत्तदपि नेत्याह—

वसुदेवसुतो विष्णुर्माता च देवकी स्मृता ।
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २४ ॥

वसुदेवेति । विष्णुः=विष्णुसंज्ञको देवः वसुदेवसुतः=वसुदेवाख्यनृपपुत्रः माता=जननी च समुच्चये । विष्णोरिति सम्बन्धस्य लभ्यते । देवकी=तदाख्या वसुदेवनृपभार्या, स्मृता=कथिता, जन्मनक्षत्रम्=यस्मिन्नक्षत्रे जन्म तत् रोहिणी=तदाख्यम् । वसुदेवनृपभार्याया देवक्याः कुक्षौ विष्णुः कृष्णनाम्नाऽवततार । यदुक्तम्—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति पौराणिकाः । एवं

शूलधारक'=शूलस्य तदाख्यशस्त्र-
तृतीयः=विष्णु', शङ्खचक्राङ्क =
ादृश', एव प्रत्येकमङ्कभेदे सति,
ाकस्या मूर्त्तेर्विभिन्न चिह्न प्रसिद्धमिति
णाम् , एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां
७ ॥

त्रैत्व समर्थ्य मुखाद्यङ्गवैलक्षण्येनाऽपि

नेत्रोऽथ महेश्वर. ।
मूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥

चतुर्मुख'=चत्वारि चतु सङ्ख्यानि
=तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्र =त्रीणि
एक भालस्थमित्येवं यस्य स तादृश',
ारो भुजा बाहवो यस्य स तादृश ,
चतुर्भुजत्वं त्रयाणामेव पुराणादा-
ग्रमिति चिन्त्यम् । एवमवयववैलक्षण्ये
। यो हि चतुर्मुख. सोऽष्टनेत्रोऽष्ट-
र्भुजश्चेति नैकमूर्त्तिस्ते इति तात्पर्यम्

प्रजापतिसुत इति ।
सुत=प्रजापतिनाम्नो द्विजस्य सु
पुत्र " इत्यमरः । माता=अ
पद्मावती=तदाख्या प्रजापतिद्वि
यामिति भाव । तथा, जन्म
जन्म तन्नक्षत्रं मम् 'नक्षत्रमृक्ष
मित्यमरः । प्रजापतिभार्याया
पौराणिक इति भाव. । तदने
मपि येषां मिथिलौ मातापित
दयः श्रुता वा मात्रादिभेदे एकत्र
किञ्च प्रभाव्यामेकत्वे प्रजापति
व्यपदेशो निर्हेतुक एव स्यादिति

ननु त्रिमार्गेणैव मूर्तिमति

वसुदेवसुतो विष्णुमाता
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेक

वसुदेवेति । विष्णु =वि
वसुदेवाख्यस्य पुत्र माता=जननी
सत्या सम्मते । देवकी=तदाख्य
जन्मनक्षत्रम्=यस्मिन्नक्षत्रे जन्म त
भार्याया देवस्य 'कुरोर्विष्णु कृष्ण
पौराणस्य पुंस. कृष्णात्तु भगवान

गरुडः स एवैक यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, "गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेय खगेश्वर" इत्यमर । **भवेत्** । तदेव प्रत्येकं वाहनभेदे सति **एकमूर्त्तिः कथ भवेत् ?** । नह्येकमूर्त्ते देवस्य नित्यं विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवक वाहनमित्यनद्ध स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात् । जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यभेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

**पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि र्महेश्वरः ।**
**चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥**

पद्महस्त इति । **ब्रह्मा, पद्महस्तः**=पद्म कमल नित्य हस्ते यस्य स तादृश., पद्मपाणिरित्यर्थः । व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव, अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेधः सङ्गच्छते । "अवर्ज्यो हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद" इति वामनश्चेति बोध्यम् । **भवेत्** । **महेश्वरः, शूलपाणिः**=शूल तदाख्यं शस्त्र नित्यं पाणौ यस्य स तादृशः, भवेदिति सम्बध्यते । **विष्णु, चक्रपाणि**=चक्र सुदर्शनाख्य चक्रमायुध नित्य पाणौ यस्य स तादृशः । **भवेत्** । ततश्च, **एकमूर्त्तिः कथ भवेत् ?** नह्येकमूर्त्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि प्रसिद्धानि । यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः, तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञान पद्मादिद्वारा नैव स्यात्, जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्ण्वादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्त्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

भेदादेकमूर्तित्वहानिरित्यलमाऽपेक्ष्यैव तावच्छ्रेकेरिति पुनर्वर्णभेदरूपेण मूर्तित्वं विघटयन्नाह—

रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।
कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥

रक्तवर्ण इति । ब्रह्मा, रक्तवर्णः=रक्तो लोहितो वर्णो रूपं यस्य स तथाभूतः । लोमकान्तिरित्यर्थः । "लोहितो रोहितो रक्त" इत्यमरः । महेश्वरः, श्वेतवर्णः=शुक्लवर्णः, "शुक्लशुभ्रशुचिश्वेत-विशदश्येतपाण्डुराः" इत्यमरः । भवेत्, पुराणादौ तथा प्रतिपादनात् तथा प्रतीयते इति बोध्यम् । विष्णुः, कृष्णवर्णः=नीलच्छविः, "कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः" इत्यमरः । एवं यस्यैकं भिन्नभिन्नवर्णत्वे सति एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नैकस्या मूर्तेर्भिन्नवर्णत्व प्रसिद्धा । एवञ्च वर्णभेदान्मूर्तिभेदो निश्चित एवेत्यतः परोक्तं सर्वमसङ्गतमेवेति भावः ॥ २६ ॥

मन्वन्तरभेदाद्वर्णभेदोऽपि सम्भाव्यत एव । वर्णस्य शरीरमात्रनिष्ठत्वादिति न तावतैकमूर्तित्वमनुपपन्नमिति गुणभिन्नताभिन्नभेदेनैकमूर्तित्वाऽनुपपत्तिमाह—

तपस्वी भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारकः ।
तृतीयः शङ्खचक्राङ्क एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २७ ॥

तपस्वीति । ब्रह्मा, तपस्वी=तपः कायक्लेशादि तन्निमित्तं दुःखं भाव्यमस्त्यस्य कर्मणमिति स तथाभूतोऽयस्वी, तपस्वी तापस इत्यर्थः । द्वितीयः=महेश्वराख्यो देवः, तस्य च पूर्वोक्तब्रह्मापेक्षया द्वितीयत्वे

कृष्णस्य च तृतीयत्वमित्यवधेयम् । शूलधारकः=शूलस्य तदाख्यशस्त्र-विशेषस्य धारकः, शूलाङ्क इत्यर्थः । तृतीयः=विष्णुः, शङ्खचक्राङ्कः= शङ्खश्चक्रं चाऽङ्कौ चिह्ने यस्य स तादृशः, एवं प्रत्येकमङ्कभेदे सति, एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । नह्येकस्या मूर्त्तेर्विभिन्नं चिह्नं प्रसिद्धमिति चिह्नभेदाद्भिन्नैव मूर्त्तिर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरणाम्, एकस्याऽनेकचिह्नत्वे लोकानां परिचयव्यामोहापत्तेश्चेति भावः ॥ २७ ॥

तदेव चिह्नभेदेन विभिन्नमूर्त्तित्वं समर्थ्य मुखाद्यङ्गवैलक्षण्येनाऽपि तदुपपादयन्नाह—

**चतुर्मुखो भवेद् ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।**
**चतुर्भुजो भवेद् विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥**

चतुर्मुख इति । ब्रह्मा, चतुर्मुखः=चत्वारि चतुःसङ्ख्यानि मुखानि यस्य स तादृशः, अथ=तथा, महेश्वरः, त्रिनेत्रः=त्रीणि त्रित्वविशिष्टानि नेत्राणि द्वे यथावस्थे एकं भालस्थमित्येवं यस्य स तादृशः, भवेत्, विष्णुः, चतुर्भुजः=चत्वारो भुजा बाहवो यस्य स तादृशः, "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इत्यमरः । चतुर्भुजत्वं त्रयाणामेव पुराणादा-वुक्तमिति न तावतेह वैलक्षण्यं साध्यमिति चिन्त्यम् । एवमवयववैलक्षण्ये सति, एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? । यो हि चतुर्मुखः सोऽष्टनेत्रोऽष्ट-बाहुश्चौचित्यात्स्यान्न तु त्रिनेत्रश्चतुर्भुजश्चेति नैकमूर्त्तिस्ते इति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥

जन्मदेशभेदादपि भिन्नमूर्तित्वमित्याह—

मथुरायां जातो ब्रह्मा राजगृहे महेश्वरः ।
द्वारावत्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

मथुरायामिति । ब्रह्मा, मथुरायाम्=तदाख्यायां नगर्याम्, जातः=उत्पन्नः, महेश्वरः, राजगृहे=तदाख्ये नगरे जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावत्याम्=तदाख्यायां नगर्याम्, अभूत्=जातः कृष्णस्याऽपि मथुरायामेव जन्म, जरासन्धभयसन्त्रस्तः पश्चिमसमुद्रतटे द्वारावतीं नगरीं निर्माय तत्रैवावस्थितेः पुराणादौ प्रतिपादितमितीह चिन्त्यम् । एवं जन्मदेशभेदे सति, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नैकस्या एव मूर्तेरनेकदेशे जन्मेति नैकमूर्तित्वमिति भावः ॥ २९ ॥

वाहनभेदेनाऽपि मूर्तेर्भेदमाह—

हंसयानो भवेद्ब्रह्मा वृषयानो महेश्वरः ।
तार्क्ष्ययानो भवेद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

हंसयान इति । ब्रह्मा, हंसयानः=हंसेत्याख्यः प्रसिद्धः पक्षिविशेषो नित्यं स एवैक यानं वाहनं यस्य स तादृशो हंसवाहनः, "याने युग्यं पत्रं वाह्यं वहं वाहनधोरणे" इति हैम । भवेत्, महेश्वरः, वृषयानः=वृषो भद्राख्यो बलीवर्दो नित्यं यानं यस्य स तादृशो वृषवाहनः, भवेदिति सम्बध्यते । "उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः" इत्यमरः । तथा विष्णुः, तार्क्ष्ययानः=तार्क्ष्यो

गरुडः स एवैक यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, "गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेय खगेश्वर" इत्यमर.। भवेत्। तदेव प्रत्येकं वाहनभेदे सति एकमूर्त्तिः कथं भवेत् ?। नह्येकमूर्त्ते र्देवस्य नित्य विभिन्नवाहनविशिष्टतया ख्यातिः सम्भवति, विभिन्नवाहनत्वे स एवक वाहनमित्यनद्ध स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात्। जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भावः ॥

सम्प्रति करग्राह्यभेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

**पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि र्महेश्वरः।**
**चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३१ ॥**

पद्महस्त इति। ब्रह्मा, **पद्महस्तः**=पद्म कमल नित्य हस्ते यस्य स तादृश., पद्मपाणिरित्यर्थ.। व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव, अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेध सङ्गच्छते। "अवर्ज्यो हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद" इति वामनश्चेति बोध्यम्। **भवेत्**। **महेश्वरः, शूलपाणिः**=शूल तदाख्यं शस्त्र नित्यं पाणौ यस्य स तादृश', भवेदिति सम्बध्यते। **विष्णु, चक्रपाणि**=चक्र सुदर्शनाख्य चक्रमायुध नित्यं पाणौ यस्य स तादृश'। **भवेत्**। ततश्च, **एकमूर्त्ति कथं भवेत् ?** नह्येकमूर्त्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि प्रसिद्धानि। यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः, तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्, जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्ण्वादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधा त्पद्मादीनि विभिन्नमूर्त्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

जन्मदेशभेदादपि विभिन्नमूर्तित्वमित्याह—

मथुरायां जातो ब्रह्मा राजगृहे महेश्वरः ।
द्वारावत्यामभूद्विष्णुरेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २९ ॥

मथुरायामिति । ब्रह्मा, मथुरायाम्=तदाख्यायां नगर्याम्, जातः=उत्पन्नः, महेश्वरः, राजगृहे=तदाख्ये नगरे, जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वारावत्याम्=तदाख्यायां नगर्याम्, अभूत्=जातः कृष्णस्याऽपि मथुरायामेव जन्म, जरासन्धनृपभयतः पश्चिमसमुद्रतटे द्वारावतीं नगरीं निर्माय तत्रैवासेत्येवं पुराणादौ प्रतिपादितमितीदं चिन्त्यम् । एवं जन्मदेशभेदे सति, एकमूर्तिः कथं भवेत् ? । नैकस्या एव मूर्तेरनेकदेशे जन्मेति नैकमूर्तित्वमिति भावः ॥ २९ ॥

वाहनभेदेनाऽपि मूर्ते र्भेदमाह—

हंसयानो भवेद्ब्रह्मा वृषयानो महेश्वरः ।
तार्क्ष्ययानो भवेद्विष्णु रेकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ ३० ॥

हंसयान इति । ब्रह्मा, हंसयानः=हंसवाहनः 'प्रसिद्ध' पक्षिविशेषो नित्यं स एव यानं वाहनं यस्य स तादृशो हंसवाहनः, "यानं युग्यं पत्रं वाह्यं वहं वाहनधोरणे" इति हैमः । भवेत्, महेश्वरः, वृषयानः=वृषो भद्राख्यो बलीवर्दो नित्यं यानं यस्य स तादृशो वृषवाहनः, भवेदिति सम्बध्यते । 'उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः" इत्यमरः । तथा, विष्णुः, तार्क्ष्ययानः=तार्क्ष्यो

गरुड. स एवैकं यान यस्य स तादृशो गरुडवाहन, "गरुत्मान् गरुडस्ताक्ष्यों वैनतेयः खगेश्वर" इत्यमरः। भवेत्। तदेव प्रत्येक वाहनभेदे सति एकमूर्त्तिः कथ भवेत्? । नह्येकमूर्त्ते र्देवस्य नित्य विभिन्नवाहनविशिष्टतया स्थानि सम्भवन्ति, विभिन्नवाहनत्वे स एवैक वाहनमित्यवद्ध स्यात्, वाहनभेदेन विवेकेन तत्तद्देवग्रहश्च न स्यात्। जायते च तथैवेति नैकमूर्त्तिरिति भाव ॥

सम्प्रति करग्राह्यभेदेन मूर्त्तिभेदमाह—

**पद्महस्तो भवेद् ब्रह्मा शूलपाणि र्महेश्वरः ।**
**चक्रपाणिर्भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २१ ॥**

पद्महस्त इति। ब्रह्मा, पद्महस्तः=पद्म कमल नित्यं हस्ते यस्य स तादृश., पद्मपाणिरित्यर्थ। व्यधिकरणबहुव्रीहिरपि साधुरेव, अत एव सप्तम्या बहुव्रीहौ पूर्वप्रयोगनिषेध. सङ्गच्छते। "अवर्ज्यो हि व्यधिकरणबहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपद" इति वामनश्चेति बोध्यम्। भवेत्। महेश्वरः, शूलपाणिः=शूल तदाख्यं शस्त्र नित्यं पाणौ यस्य स तादृश., भवेदिति सम्बध्यते। विष्णु, चक्रपाणि=चक्र सुदर्शनाख्य चक्रमायुधं नित्यं पाणौ यस्य स तादृश। भवेत्। ततश्च, एकमूर्त्ति· कथ भवेत्? नह्येकमूर्त्तेर्देवस्य पाणौ विभिन्नानि वस्तूनि प्रसिद्धानि। यद्यपि चतुर्भुजत्वात्प्रत्येक भुजेषु वस्तुभेदो नाऽयुक्तः, तथापि तथासति विवेकेन ब्रह्मादिपरिज्ञानं पद्मादिद्वारा नैव स्यात्, जायते च चक्रपाणिशब्दादिना विष्ण्वादेर्विवेकेनैव ग्रह इति तदनुरोधात्पद्मादीनि विभिन्नमूर्त्तेरेव विशेषणानीति नैकमूर्त्तिरिति बोध्यम् ॥ २१ ॥

अथ जन्मकालभेदेन मूर्तिभेदमाह—

कृते जातो भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वरः ।
विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ १२ ॥

कृत इति । ब्रह्मा, कृते=कृतयुगे, सत्ययुग इत्यर्थः । चतुर्षु युगचतुष्टयेषु प्रथमे युगे इति यावत् । जातः=अवतीर्णः, भवेत् । महेश्वरः, त्रेतायाम्–तदाख्ये द्वितीये युग इत्यर्थः । च समुच्चये । जात इति सम्बध्यते । विष्णुः, द्वापरे=तदाख्ये तृतीये युग इत्यर्थः, जातः, च समुच्चये । तदेवं जन्मकालस्यैक्यमभिमतस्यान्तरे एकमूर्तिर्न कथमपि युज्यते तदाह–एकमूर्तिः कथं भवेदिति । नह्येकमूर्तेर्नैकेषु कालेषु पुनः पुनर्जन्म कथमपि योग्यमसम्भवात्, तस्मात्ते त्रयो भवा नैकमूर्तेः कथमप्युपपन्ना इति तन्निर्णयैव । अथान्यकालस्यैव चैतन्यस्याऽवतारभेदेन पित्रादिजन्मकालान्तरमेव सम्भवति । तथाऽपि कार्यकारणरूपता समकालस्थितिविभागानां च कथमपि नोपपद्यते, एकस्य चेतनस्यैकस्मिन् काले नानाशरीराऽधिष्ठानविरोधात्कार्यकारणरूपतायाः भेदे सत्येवोपपत्तेश्चेति नैकमूर्तिः । किञ्च न मूर्तिचेतनोऽपि त्वमूर्त इति विभागत्वमेकमूर्ते जन्मतदनिष्पन्नत्वमभेदेऽसम्भविकेन ॥ १२ ॥

तदेवं परेषदेवस्यैकमूर्तेर्विभागत्वमप्रमाणमिति विस्तरेणोपपाद्य, प्रकृतं 'ज्ञान चारित्रदर्शनादि'ति तद्विशदं निरूपयन्नाह—

ज्ञानं विष्णुः सदा प्रोक्तं ब्रह्मा चारित्रमुच्यते ।
सम्यक्त्वं तु शिवः प्रोक्तमर्हन्मूर्तिस्त्रयात्मिका ॥ १३ ॥

ज्ञानमिति। **ज्ञानम्**=सम्यग्ज्ञानं केवलज्ञानं च, **सदा**=सर्वदा, न तु यदाकदाचिदेव, **विष्णुः**=विष्णुरित्येवम्। **प्रोक्तम्**=प्रतिपादितम्, तज्ज्ञैरिति शेषः। व्यापकत्वाद्धि विष्णुरित्युच्यते पालकत्वाच्च। एतद्गुणद्वयं च ज्ञाने, केवलज्ञानस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेन व्यापकत्वात्सकलकर्मक्षयहेतुतया भवभयात्पालकत्वाच्चेति ज्ञानं विष्णुरिति प्रोक्तम्। तथा, **चारित्रम्**=सर्वसावद्यविरतिः, **ब्रह्मा**=ब्रह्मपदवाच्यम्, **उच्यते**=प्रतिपाद्यते। ब्रह्म हि ब्रह्मचर्यम्, तदेव च सत्याऽहिंसाऽस्तेयाऽपरिग्रहरूपमहाव्रतसर्गमूलम्। ब्रह्मचर्यं विना सत्यादेर्यथावत्पालनाऽसम्भवात्। ब्रह्मा च जगत्स्रष्टेति सर्वजगन्मूलमिति द्वयो र्ब्रह्मणोरैक्यम्। किञ्च चारित्रमेव पारमार्थिको ब्रह्मा, सत्यादिगुणाऽऽधानादिना भवक्षयपूर्वकसिद्धिसर्गमूलत्वात्। इतरस्तु ब्रह्मा भवसर्जक इति भवपरम्परावर्धक इति सर्जनधर्मसाधर्म्यादेव तस्य ब्रह्मत्वमिति निकृष्टत्वाद्धेय एवेत्याशय। एवम्, **तुः** पुनरर्थे, **सम्यक्त्वम्**=तत्त्वार्थश्रद्धानात्मकं सम्यग्दर्शनम्, **शिवः**=शिवपदवाच्यः, **प्रोक्तम्**=उपवर्णितम्। शिवो हि पुराणादौ जगत्संहारको वर्णितः, सम्यक्त्वमपि च कर्मक्षयोपशमहेतुगुणवृद्धिक्रमेण सर्वकर्मक्षयपूर्वकभवक्षयहेतुश्चेति तदेव परमार्थतः शिव इति तात्पर्यम्। तदेवम्, **अर्हन्मूर्त्तिः**=अर्हतस्तीर्थङ्करस्य मूर्त्तिस्तनुः, "स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनू"रित्यमरः। **त्रयात्मिका**=त्रये चारित्रज्ञानदर्शनात्मका ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा आत्मा स्वरूपं यस्याः सा तादृशी। केवलज्ञानादेरर्हत्येव सत्त्वात्स एवैकमूर्त्तिस्त्रयो भागाः। तदेतत्सुष्ठूक्तम् "एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनादि"ति। कस्याऽपि देवस्य त्र्यात्मकत्वस्योक्तप्रकारेणाऽ-

सम्भवस्य प्रतिपन्नत्वात् । तस्मादयमेव महादेवो नाऽन्य इति स्थितम् ॥ १३ ॥

यत्तु परैर्महादेव क्षित्याद्यष्टमूर्तिः प्रतिपाद्यते, सोऽष्टमूर्तिः परमार्थतो गुणाष्टकसद्भावादेवेत्याह—

क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः ।
इत्येतेऽष्टौ भगवति गीता वीतरागे सुगुणाः ॥ १४ ॥

क्षितीति । भगवति=भग ऐश्वर्यादि, यदुक्तम् " ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणे"ति । सोऽस्याऽस्तीति स भगवांस्तस्मिन्, ईश्वर इत्यर्थः । वीतरागे=वीतो दूरीभूतो राग उपलक्षणत्वाद्रागद्वेषादयो दोषा यतः स वीतरागस्तस्मिन्, निस्पृहत्वगुणयुक्तसत्स्वभाव इत्यर्थः । क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः=क्षितिः पृथिवी, जलं प्रसिद्धं सलिलम्, पवनो वायुः, हुताशनोऽग्निः, यजमानो व्रती, आकाशो गगनम्, सोमश्चन्द्रः, सूर्यो रविः, एता आख्या अभिधानानि येषां गुणानां ते तथा क्षित्यादिनामानः, 'आदेष्टा स्याद्यजमाने व्रती । याजको यज्वा मखेष्व'पि हैमः । इति=उक्तप्रकाराः, एते=क्षित्यादयः, अष्टौ=अष्टसङ्ख्याकाः सुगुणाः=विशिष्टधर्माः, विशेषणानीत्यर्थः । गीताः=वर्णिताः । परैर्महादेवस्य द्रव्यात्मकक्षित्यादिरूपं प्रतिपादितं तदत्यन्तमसमञ्जसम् । यदि हि परैर्देवस्य क्षित्यादिरूपत्वं स्यात्, तर्हि स महादेव एव स्यात्क्षित्यादिर्वा न तूभये, अभेदेऽन्यतरस्य विरोधात् । एकस्य विभिन्नानाकारतथारूपताऽसम्भवात् । गुणास्तु विभिन्ना

अप्यनेके एकस्मिन्नपीति गुणाऽष्टकसद्भावादर्हन्नेवाऽष्टमूर्त्तिरिति तात्पर्यम् । आर्यावृत्तम् ॥ ३४ ॥

क्षित्यादिगुणान्निरूपयन्नाह—

**क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।**
**निःसङ्गता भवेद्वायु र्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥**

क्षितिरिति । **क्षान्तिः**=शक्तौ सत्यामप्यपकारिष्वपि क्षमा, अपराधादिसहनात्मको गुणविशेष इत्यर्थः । अर्हत इति षष्ठ्यन्तं सर्वत्र प्रस्तावात्सम्बन्धनीयम् । **येत्युद्देश्ये, प्रसन्नता**=साकल्येन कर्ममलाऽभावाद्रागादिदोषाऽभावाच्चाऽऽत्मनो निर्विकल्पत्वान्निरुपाधित्वाच्च निर्मलता, विशुद्धता स्वच्छता वेत्यर्थः । "प्रसन्नोऽच्छ" इत्यमरः । येति यच्छब्द-बलात्तदिति लभ्यते । **जलम्**=सलिलम्, उच्यत इति सम्बध्यते । चोऽन्वाचये । जलमपि निर्मलमिति प्रसन्नता जलतत्त्वमिति भावः । तथा, **निःसङ्गता**=निर्लेपता, वीतरागतेत्यर्थः । **वायुः**=पवनः, **भवेत्**=स्यात् । पवनो ह्यस्निग्धत्वान्न कुत्राऽपि सजति, तथाऽर्हन्नपि वीतरागत्वान्नि-सङ्ग इति निःसङ्गता वायुतत्त्वमिति बोध्यम् । एवम्, **योगः**=शुक्ल-ध्यानम्, **हुताशः**=अग्निः, यथा हि हुताशः इन्धनादिदाहकस्तथा योगोऽपि सर्वकर्मेन्धनदाहक इति योगोऽग्नितत्त्वम्, **उच्यते**=प्रतिपाद्यते ॥ ३५ ॥

**यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।**
**अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥**

यजमान इति । आत्मा=भईत्सत्त्वोपमध्येमनः, तपोदानदया-दिभिः=तपःषष्ठाऽष्टमक्षपणादिकम् । दानं दीक्षाग्रहणसमयम् वार्षिकदानादिकम् । दया निर्हेतुकसर्वभूतानुकम्पा, सर्वभूतादेशेनाऽर्हितोऽस्ते स्वात्मस्य सर्वसावद्यनिरतत्वाच्चेतिभाव । भावित्य प्रभाऽपरिमितानि, तैःकृत्वा, यजमानः=याजक, मञ्जतर । दयादिकमेव हि यथार्थं यजनम्, हिंसादिसार्थ तु दुरिताऽनुबन्धित्वादशुभत्वात्साधक कर्मेति सत्तुल्यजनमेवेति भावः । तथा सः=भईदात्मा, अलेपकत्वात्=कर्ममलक्लेपसाधमाऽऽत्मवद्न्यत्वात्संवृतत्वाच्छुद्धत्वात निर्मलानि तिलेषु लेपयोग्यतया भव्यमावादिति कर्मकलात्मकलेपाऽविरक्यादित्यर्थ । आकाशसदृशः=आकाशोपमः, ' निम्नस्थसनीकाशसमीकाशोपमास्त्वम'' इत्यमर । अभिधीयते=गीयते । यथाऽऽकाशोऽमूर्तत्वात्सर्वस्मान्विलेपात्योग्यतयाऽप्यमपि निर्गुणत्वादिति तस्य निर्लिप्तताऽऽकाशवत्वमिति भावः ॥ १६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्रो वीतरागः समीक्ष्यते ।
ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदित्योऽभिधीयते ॥ १७ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिरिति । वीतरागः=रागादिरहितोऽर्हन्, सौम्यमूर्तिरुचिः=सौम्या प्रिया प्रशान्ताऽनुद्वेगकरा मनोज्ञा च मूर्तिरुचिः शरीरप्रभा यस्य स तादृशः सन्, यदुक्तम्—" मासां मनै परिक्षोण्वैत्वामिसि चन्द्रमा । चकोराणामिव दृशां ददासि परमं मुदमि''ति । सौम्य च मधुरं प्रियमि''ति हैमः । " स्तुः प्रभारुचिरि''त्यमर । अत एव, चन्द्रः = चन्द्र इव, समीक्ष्यते=अवलो

च्यते। चन्द्रोऽपि हि प्रियदर्शन इति वीतरागस्य सौम्यमूर्त्तिरुचिश्चन्द्र-तत्त्वमित्याशयः। तथा, सः=वीतरागः, ज्ञानप्रकाशकत्वेन=ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानस्य प्रकाशकत्वेनोपदेशादिनोद्बोधकत्वेन, आदित्यः=सूर्य इव, अभिधीयते=कीर्त्यते। सूर्यो हि तमोनाशपूर्वकं जगत्प्रकाशयति, तथा वीतरागोऽपि सदुपदेशेनाऽज्ञानं विनाश्य सम्यग्ज्ञानं प्रकाशयतीति ज्ञानप्रकाशकत्वं वीतरागस्य सूर्यतत्त्वम्। यदुक्तम्—"यःपरात्मा पर-ज्योतिः परमः परमेष्ठिनाम्। आदित्यवर्णं तमसः परस्तादामनन्ति यमि"ति भावः। तदेवं गुणगुणिनोरभेदनये उक्तप्रकारेण क्षित्याद्यात्मकक्षमाद्यष्ट-गुणात्मकत्वादर्हन्नष्टमूर्त्तिः। परेष्टो महादेवस्तु विभिन्नव्यक्तीनामभेदाऽ-सम्भवस्य प्रागुपपादितत्वाच्छत्रुवधादिप्रवृत्ततया क्षमाद्यभावनिश्चयाच्च शब्दमात्रोऽष्टमूर्त्तिरिति हृदयम्॥ ३७॥

तदेवं गुणतोऽर्हन्नेव महादेव इति स एव नमस्करणीय इत्याह—

**पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः।**
**अर्हंस्तस्य नमस्कारः कर्त्तव्यः शिवमिच्छता॥ ३८॥**

पुण्यपापविनिर्मुक्त इति। अर्हन्=वीतरागस्तीर्थङ्करः, सर्वैःसुरा-दिभिः कृतां पूजामर्हतीति स तादृशः। यदुक्तम्—"यस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके। देवर्षिनरेन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वा-नामि"ति। रागद्वेषविवर्जितः=रागेणाऽऽसक्त्या द्वेषेणाऽप्रीत्या चोपलक्षणत्वान्मोहकषायादिभिश्च विवर्जितो रहितः। यदुक्तम्—"न केवलं रागमुक्तं वीतराग! मनस्तव। वपुःस्थितं रक्तमपि क्षीरधारा-

सहोदरमि"ति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्तः=पुण्यैश्चास्मै-विहितकर्मजन्यैः पापैश्चास्मैर्निषिद्धकर्मजन्यैश्च कर्मभिः, शुभैरशुभैरे-त्यर्थः । विनिर्मुक्तो रहितः, शून्य इत्यर्थ । वीतरागत्वात्सोऽस्मात्कर्म-बन्धाऽसम्भवात्सञ्चितप्रारब्धानां क्षयाच्च । यदुक्तम्— "भवबीज-रविना शमिना शमवर्त्तिना । त्वया काममकृष्यन्त कुटिलः कर्म-कण्टकः" इति, "अनन्तकालप्रचितमनन्तमपि सर्वथा । त्वत्तो नान्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलतः" इति च । न ह्यन्यो देवो वीतराग-द्वारादिपरिग्रहैर्निग्रहानुग्रहसम्पन्नत्वात् सर्वविधवस्तुत्यागपक्षोऽर्हन्नेवेति भावः । तस्माद्धेतोरित्यर्थोऽवगम्यते । शिवम्=सकलकल्याणम्, इच्छा-ऽनभिष्वङ्गता श्रेयोऽर्थिना अनेनेति विभक्त्यर्थः । तस्य=वीतरागस्य निर्ममस्यार्हतः, नमस्कारः=प्रणाम उपलक्षणत्वात्प्रभक्तिरित्यर्थः । कर्त्तव्यः=विधेयः रागादिनाशस्तु त्वय्यस्ति इति तस्य नमस्कारो विनाश भवितुमर्हतीति । यदुक्तम्— 'शान्तसीमानि दध्मस्तं मयेत्यहो तारकः । तस्मात्त्वं मे किंमोऽसि भाव । तारय तारये"ति भाव ॥ २८ ॥

एवं गुणतो महादेवत्वं प्रतिपाद्य शब्दतस्तदाह—

अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्यान्ते परमं पदम् ॥ २९ ॥

अकारेणेति । अकारेण=कण्ठ्येन ह्रस्वस्वरेणाऽक्षररूपे "अर्हं" इत्यक्षरपटके प्रथमवर्णेनेत्यर्थः । विष्णुः=विष्णुवाचक-भवेत्=स्यात् । अर्हं इति पदमिति शेष । विष्णुवाचकत्वमुपपत्त्या

वकारसत्त्वादर्हँ इतिपदघटकोऽकारः स्वघटितनामलक्षकनामैकदेशवत् स्वघटितपदलक्षक इति भवति 'अर्हँ' इनि पदमच्युतात्मकम् । अच्युतश्च विष्णुपर्याय इति सुष्ठूक्त"मकारेण भवेद्विष्णुरि"ति । "अकारो वासुदेव स्यादि"त्येकाक्षरकोपाच्चेति वोध्यम् । एवञ्च "अर्हँ" इतिपदं शब्दतो विष्ण्वात्मकमिति समाहितम् । **रेफे**='अर्हँ' इत्यक्षरघटकरेफे, **ब्रह्मा**=ब्रह्मवाचको ब्रह्मशब्द, **व्यवस्थितः**=व्यवस्थया स्थितः । व्यवस्था चाऽवयवेऽवयविन. समवेतत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मशब्द· स्वघटकरेफवृत्ति, स रेफश्च "अर्हँ" इति पदस्थरेफेणाऽनुकृत इत्यनुकार्याऽनुकारणयोरभेद इत्येव रूपा । यद्वोक्तन्यायेन रेफो रेफघटितब्रह्मपदलक्षक इति रेफे ब्रह्मा व्यवस्थित इत्युच्यते । एतेन शब्दतो ब्रह्मात्मत्व प्रदिपादितमवगन्तव्यम् । तथा, **हकारेण**="अर्हँ" इतिपदघटकेन महाप्राणेन वर्णेन, **हर**= महेश्वर', **प्रोक्तः**=प्रतिपादित, तत्प्रतिपादन चाऽकारेण विष्णुवदेति न विस्मर्त्तव्यम् । नन्वेवमर्हतस्त्रयात्मकत्व शब्दत उपपादितमेवेति "अर्हँ" इत्यक्षरे उपरिस्थितस्याऽनुनासिकस्य किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह—**तस्येति** । अर्हँ इतिपदेऽकारोत्तररेफोत्तरवर्त्तिहकारस्येत्यर्थ । **अन्ते**=पर्यवसाने, विराम इत्यर्थ' । उपरीति यावत् । **परमम्**=सर्वोच्चत्वात्सुदुर्लभत्वात्सिद्धैरेव प्राप्यत्वाच्च सर्वान्तिमम्, **पदम्**=स्थानम्, ईषत्प्राग्भाराख्यमित्यर्थ । नहि तत उपरि किञ्चित्पदमिति तत्परममेव पद भवति । तदाकारश्चाऽर्धचन्द्राकृतिरनुनासिकरेखातुल्य, विन्दुश्च तत्स्थसिद्धाऽनुकृति । एवञ्चाऽनुनासिको रेखागवयन्यायेन सिद्धशिलाऽनुकृतिरर्हतो ब्रह्माद्यपेक्षयाऽप्युच्च-

सहोदरोऽस्मि" इति । अत एव, पुण्यपापविनिर्मुक्तः=पुण्यैरुदात्तै र्विहितकर्मजन्यैः पापैरनुदात्तैर्निषिद्धकर्मजन्यैश्च कर्मभिः, शुभैरशुभै श्चेत्यर्थः । विनिर्मुक्तो रहितः, शून्य इत्यर्थः । वीतरागत्वाल्लोकस्यार्थे कर्मणामागमवतस्सञ्चितप्रारब्धानां क्षयाच्च । यदुक्तम्—'अग्रपरो भविता क्षमिना क्षमवर्तिना । त्वया काममकुप्यन्त कुटिला व कण्टका" इति, "अनन्तकल्पसञ्चितमनन्तमपि सर्वथा । त्वये भाऽ कर्मकमनुन्मूलयति मूल३" इति च । न चान्यो देवो वीतरा गादिपरिमुक्तैर्निर्मलादिसद्भावाविति सर्वविशुद्धत्वात्सर्वोत्तमोऽयमे वास्ते । तस्मादेवेतोरित्यर्थमवगम्यते । शिवम्=स्वकल्याणम्, इ =अभिकाम्यता, श्रेयोऽर्थिना भजनीयेति मिलितार्थः । तस्मै=वीतरा निर्मलस्याऽर्हतः, नमस्कारः=प्रणामः उपलक्षणत्वाद्भक्तिरिति कर्तव्यः=विधेयः, रागादिर्मास्तु त्वय्यभिन्न इति तस्य समस्त शिवाय भविष्यतीति । यदुक्तम्—"शान्तरसोऽसि त्वमेव मयि तारकः । तस्मात्प्रभो विस्मोऽसि नाथ । तारय तारये"ति ॥ १८ ॥

तदेवं गुणतो महादेवत्वं प्रतिपाद्य शब्दतस्तत्प्रतिपाद—

अकारेण भवेद्विष्णू रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्यान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥

अकारेणेति । अकारेण=कण्ठ्येन स्वरेणाऽ— 'अर्हं" इत्यक्षरघटकेन प्रथमवर्णेनेत्यर्थः । विष्णुः=वि— भवेत्=स्यात् । अर्हं इति पदमिति शेषः । विष्णुवाचकेऽ—

षिक स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावाल्लभ्यते । एवञ्च केवल ज्ञान ज्ञानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानञ्चौपाधिकत्वादागन्तुकत्वात्परवर्तीति तदादिभूत ज्ञानमकारेण मातृकापाठेऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—अकारः= इति । तेन= आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हता । अकारः=अर्हन्निदिपदघटकोऽकार, प्रोच्यते=कीर्त्यते । सर्वप्रथमं धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवाश्चाऽर्हन्नेवेत्यादिभूतोऽकारो लक्षयत्यर्हत्पदघटक इति सारार्थ । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्येव नाऽन्यत्रेति स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्पदघटक रेफं निरूपयन्नाह—

**रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।**
**दृष्ट लोकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥**

रूपीत्यादि । **ज्ञानेन**=मतिश्रुत्यवध्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थ. । **चक्षुषा**=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, **रूपिद्रव्यस्वरूपम्**=रूपि मूर्त यद्द्रव्यमणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलात्मक द्रव्य तस्य यत्स्वरूपमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मक समान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वसदसत्त्वाऽभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वभेदाभेदाद्यनन्तधर्मात्मकत्वादनेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, **दृष्ट्वा**=ज्ञात्वा, ज्ञानचक्षुषा हि दर्शन ज्ञानमेवेति बोध्यम् । **वा**=तथा, अनन्तरमिति शेष । **लोकम्**=चतुर्दशरज्जुप्रमाणमवगाढधर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाशप्रदेशात्मकम्, लक्षणया तत्स्थ त्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, **अलोकम्**= लोकाद्बहिर्भूतमाकाशम्, **वेति**=समुच्चये । **दृष्टम्**=ज्ञातम् । **ज्ञानेन**

स्थानत्वं भजति । तादृशपदस्याप्य न प्रसादय इत्यमिव महादेव इति ध्येयम् । एतेनार्हतः सर्वतत्त्वपारमत्वं समाहितम् ॥ ३९ ॥

अथाऽर्हन्निति पदघटकाऽकारादिवर्णमात्रनिमित्तविस्तरेण रूप-ऽर्हत्पदार्थगौरवं प्रकटयन्नाह—

अकार आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः ।
स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥

अकार इति । अकारः=अर्हन्निति पदस्य प्रथमोऽकाररूपो वर्णः, आदिधर्मस्य=आदिर्मुख्य आद्यो उपदिष्टत्वात्प्रथमतया ये धर्मा दानशीलतपोभावरूपा तस्य, यदुक्तम्—"दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम् । मन्ये युगपदाख्यातुं चतुर्वक्त्रोऽभवद्भवान्" इति । मोक्षस्य=सर्वकर्मक्षयलक्षणस्य, धर्मात्प्रथमं निःश्रेयसस्वरूपत्वान्मोक्षस्य मुख्यत्वं सर्वप्रथममर्हद्भिरुपदेशाद्युगपदुपदेशाच्चोपचारादिति बोध्यम् । चकाराच्चिन्त्यसमुच्चयः, अर्हता युगपदेव धर्ममोक्षयोरुपदिष्टत्वात् । प्रदेशकः=प्रतिपादक उपदेशकश्च । अकारो हि मातृकापाठे सर्वादिरिति सोऽर्हत्पदघटक आदिधर्मस्य मोक्षस्य सकलशास्त्रादीनां चाऽऽद्युपदिष्टत्वं सूचकः । भगवान् अर्हन् प्रथमं धर्मं मोक्षं सकलशास्त्रादिकं चोपदिष्टवानिति मातृकापाठाद्यकारोऽर्हत्पदघटकेनाऽकारेण लभ्यते इति परमार्थः । किञ्च, स्वरूपम्=आत्मस्वरूपभूतम् परमज्ञानम्=केवलालोकज्ञानरूपम् केवलज्ञानस्य हि सर्वद्रव्यपर्याया विषया न सन्त्यवेति तदेव परमं ज्ञानम्, तदेव च निरावरणतया नित्यत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च गुणगुणिनोरभेदनये आत्मनः परम-

थिक स्वरूपमिति बोध्यम् । अर्हत इति प्रस्तावाल्लभ्यते । एवञ्च केवलं ज्ञान ज्ञानानामादिभूतमात्मस्वरूपत्वात्, मत्यादिकं ज्ञानञ्चौपाधिकत्वादागन्तुकत्वात्परवर्तीति तदादिभूतं ज्ञानमकारेण मातृकापाठेऽर्हच्छब्दे चाऽऽदिभूतेन लक्ष्यते, तदाह—**अकारः**= इति । **तेन**= आदिधर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकत्वेन केवलज्ञानस्वरूपत्वेन चाऽर्हतः । **अकारः**=अर्हन्निदिपदघटकोऽकारः, **प्रोच्यते**=कीर्त्त्यते । सर्वप्रथमं धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः केवलज्ञानवांश्चाऽर्हन्नेवेत्यादिभूतोऽकारो लक्षयत्यर्हत्पदघटक इति सारार्थः । एतद्वैशिष्ट्यं चाऽर्हत्येव नाऽन्यत्रेति स एव नमस्करणीयो नाऽन्योऽनीदृश इति हृदयम् ॥ ४० ॥

अथाऽर्हत्पदघटकं रेफ निरूपयन्नाह—

**रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा ।**
**दृष्ट लोकमलोक वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥**

रूपीत्यादि । **ज्ञानेन**=मतिश्रुत्यवध्यात्मकेन, तद्रूपेणेत्यर्थः । **चक्षुषा**=नेत्रेण, न तु चर्मचक्षुषा, **रूपिद्रव्यस्वरूपम्**=रूपि मूर्त्त यद्द्रव्यमणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलात्मक द्रव्य तस्य यत्स्वरूपमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मक समान्यविशेषनित्याऽनित्यत्वसदसत्त्वाऽभिलाप्याऽनभिलाप्यत्वभेदाभेदाद्यनन्तधर्मात्मकत्वादनेकान्तात्मकं च तत्त्वम्, **दृष्ट्वा**=ज्ञात्वा, ज्ञानचक्षुषा हि दर्शन ज्ञानमेवेति बोध्यम् । **वा**=तथा, अनन्तरमिति शेषः । **लोकम्**=चतुर्दशरज्जुप्रमाणमवगाढधर्मादिद्रव्योपाधिकाऽऽकाशप्रदेशात्मकम्, लक्षणया तत्स्थ त्रैकालिकसर्वद्रव्यपर्यायम्, **अलोकम्**=लोकाद्बहिर्भूतमाकाशम्, **वेति**=समुच्चये । **दृष्टम्**=ज्ञातम् । ज्ञानेन

चतुर्थेऽप्युपजायते । अत्र च ज्ञाने केवलस्यम्, तस्यैव सर्वद्रव्यपर्याय- परिच्छेदकत्वादिति ध्येयम् । तेन=स्वपिण्डस्थरूपस्थपदस्थक्रमेण लोका- लोकस्वरूपदर्शनेन हेतुना, रकारः=अर्हत्स्वघटको रेफः, प्रोच्यते कीर्त्यते । अर्हत्स्वघटको रेफो ह्युपलक्षणतया रेफपदस्थितरूपस्थरूपातीत- द्रव्यतत्त्वज्ञानक्रमेणार्हतो लोकालोकज्ञानं समस्तीति तात्पर्यम् । अर्हतो हि जन्मतो ज्ञानत्रयवैशिष्ट्यम्, दीक्षाग्रहणानन्तरं च ज्ञानमिव घातिकर्मक्षये सति केवलोत्पत्त्या सर्वज्ञत्वमित्येवमर्थं रेफो व्यक्तौ । नाऽन्यो देव एवं गुणविशिष्ट इति यावत् ॥ ४१ ॥

अथाऽर्हत्स्वघटकं हकारं निर्वक्ति—

हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहाः ।
हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥

हता इति । येन=भगवताऽर्हता भुक्तमुक्तपुण्यप्रकाशिना, अर्हतेति यावत् । रागाः=विषयाऽभिलाषाः, आत्मभिन्नेष्वासक्तय इत्यर्थः । बहुवचनं सामस्त्येन रागपरिग्रहार्थम् अर्हति रागलेशस्याऽप्यभावात् । एवमग्रेऽपीति बोध्यम् । द्वेषाः=अनिष्टेष्वप्रीतयः चार्थः=समुच्चये । हताः=विनाशिताः सर्वथा त्यक्ता इत्यर्थः । वीतरागो भगवान् इति यावत् । यदुक्तम्— सुखे दुःखे भवे मोक्षे यदौदासीन्यमीक्षिषे । तदा वैराग्यमेवेति कुत्र नाऽसि विरागवान् 'इति यथा मरुन्नरेन्द्र- श्रीस्त्वया नाभ्युपजुष्यते । यत्र तत्र रतिर्नाम विरक्तत्वं तदापि ते'' इति च मोहजन्यां करुणामपीश! समाधिमाध्यस्थ्ययुगाश्रितोऽसी''ति च । तथा, अत एव, मोहपरीषहाः=मोहा अज्ञानस्य हेतवस्तथा-

ऽगारादिषु ममत्वानि, परीषहाः क्षुत्तृष्णादयो द्वाविंशतिविधाः परीषहपदवाच्याश्च, हताः=विनाशिताः, मोहास्त्यक्ता परीषहाश्च सहिता इत्यर्थः। मोहस्य त्यागः परीषहस्य सहनं च नाशस्तयोरिति बोध्यम्। यस्य च न रागद्वेषौ तस्यैव मोहादिजय इति भावः। तथा, **कर्माणि**=शुभाऽशुभात्मकानि सर्वाण्येव पापपुण्याभिधानान्यास्रवजन्यानि कर्माणि, **हतानि**=परिशाटितानि, यदुक्तम्—"अनन्तकालप्रचितमनन्तमपि सर्वथा। त्वत्तो नाऽन्यः कर्मकक्षमुन्मूलयति मूलत" इति। **तेन**=रागद्वेषमोहपरीषहकर्महननेन हेतुना, **हकारः**=अर्हत्पदघटको हकाररूपो वर्णः, **प्रोच्यते**=वर्ण्यते। अर्हत्पदघटको हकारोऽर्हतो रागादिहननं लक्षयति, दारपरिग्रहादिना नाऽन्यो देव ईदृश इति हृदयम्॥ ४२॥

अथाऽर्हन्नितिपदान्तस्थ नकार निर्वक्ति—

**सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्ण प्रतिहार्याष्टकेन च।**
**ज्ञात्वा पुण्य च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते॥ ४३॥**

सन्तोषेणेति। **पुण्यम्**=शुभ कर्म, **पापम्**=अशुभ कर्म, **च**=द्वयं समुच्चये। **ज्ञात्वा**=विवेकेन परिच्छिद्य, इद पुण्यमिद पापमित्येवं विविच्येत्यर्थ। **सन्तोषेण**=आत्मरत्या, तृष्णोपरमेणेत्यर्थ। उपशमेनेति यावत्। **अभिसम्पूर्ण**=सम्भृत, आत्मरमणात्सर्वथा तुष्टमनोवृत्तिरित्यर्थ। असन्तोषात्परिग्रहादिप्रवृत्ते पुण्यपापाऽनुबन्धाद्भवपरम्परात्मकदुष्परिणामाऽनुषङ्ग इत्यतो विषयविरक्त उपशान्ततृष इति परमार्थः। तथा, **प्रातिहार्याऽष्टकेन**=प्रातिहार्याणा द्वा स्थ इव समवसरणस्थेऽर्हति नियतस्थितीना तथाख्याताना चैत्यपादपच्छत्रदुन्दुभ्यादीनामष्टकेना-

ऽप्रतम्या, उपलक्षणत्वात्सहजातिशयेन च, येनाऽभिसम्पूर्ण इत्यु-च्यते, समन्वित इत्यर्थः । यदुक्तम्—"एतां चमत्कारकरीं प्रातिहार्यश्रियं तव । चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा नाथ ! मिथ्यादृशोऽपि हि" इति । तेन=पुण्यपापविवेकसन्तापपर्यतिहार्यातिशयसम्पन्न हेतुना, नकारः=अर्थि-त्वाकारकमयान्तसो नकारस्यो वर्ण प्रोच्यते=प्रकीर्त्यते । पर्यन्तिते-सत्पदघटको नकारोऽर्हत पुण्यपापसत्त्वहत्त्वं सन्तुष्टस्य प्रातिहार्य-समूहमभिसमन्विताशितत्वं च व्यनक्तीति स्पष्टम् ॥ ४३ ॥

तदेवमुक्तप्रकारेणाऽर्द्धेन सन्दर्भेऽर्हतो गुणलक्ष जिनो महेश्वरो महादेव एकमूर्तिरेकमूर्तिरित्युपपाद्य "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" इत्युक्त्यनुसारेण तस्य तादृश्ये भवभयनुपपत्ति-हीर्षुर्वीतरागं नमस्करोति—

> भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपगता यस्य ।
> ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं-

॥ श्रीमहादेवस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

भवबीजाङ्कुरजनना इति । यस्य=यादृशस्य देवस्य, भवबीजा-ङ्कुरजननाः=भवस्य कर्मवशोपपन्नजन्ममरणादेः बीजाङ्कुरस्य बीजं कारणं तदात्मको योऽङ्कुरो बीजप्ररोहस्तस्य बीजं वाङ्कुरजननेन परिवर्धितम् बीजाङ्कुरस्तु यथाऽस्ति पुष्पितश्च सन् पुनःपुनर्बीजं जनयतीति भवपरम्परया इत्यर्थः । जन्मतु परिणतिरिति जनना हेतवः तादृशा इत्यर्थः, रागाद्याः=रागद्वेषमोहकामममत्व भावना इति भावः । भावना

हि भवपरम्परानिदानकर्मबन्धहेतव., यदुक्तम्—"आस्रवो बन्धहेतुः स्यादि"ति बोध्यम् । क्षयम्=नाशम्, उपगताः=प्राप्ताः, रत्नत्रयाऽऽराधनादिना भवपरम्पराहेतवो रागाद्या यस्य नष्टा, स तादृश इति सारार्थ । ब्रह्मा=तदाख्यो देव, विष्णुः=तदाख्यो देव', हरः=तदाख्यो देव, महादेव इति परतीर्थिकप्रसिद्धः । जिनः=वीतरागोऽर्हन्, सर्वत्र वाकारोऽनास्थायाम् । न व्यक्तिविशेषे आग्रह., किन्तु यो वीतराग, तस्मै=तादृशाय वीतरागाय, नमः=नमस्कार', अस्तु ममेति शेष' । ब्रह्मादीनाञ्चोक्तप्रकारेण दारादिपरिग्रहेण वीतरागत्वाऽभावज्जिन एव वीतराग इति तस्मा एव नम । ब्रह्मादयोऽपि चेत्तथा-स्युस्तर्हि तस्मा अपि नम., यतो गुणा पूजास्थानमिति भाव ॥ ४४ ॥

पन्यासकीर्तिचन्द्रेण कृता कीर्तिकलाख्यया ।
व्याख्येयं श्रीमहादेवस्तोत्रसारार्थबोधिनी ॥ १ ॥

वत्सरे वैक्रमे सेय रसेन्दुव्योमलोचने ।
पूर्णा वसन्तपञ्चम्यां महादेवाऽर्हणाऽस्तु मे ॥ २ ॥

षण्णां श्रीहेमचन्द्रेण निर्मितानां पृथक्तया ।
स्तोत्राणां निर्मिता व्याख्या हिन्द्या चाऽमरभाषया ॥ ३ ॥

द्वात्रिंशिकाद्वयी पूर्वं वीतरागस्तवस्ततः ।
पुनः सकलार्हत्स्तोत्रं वीरस्तोत्रसमन्वितम् ॥ ४ ॥

तदनु श्रीमहादेवस्तोत्रमेवं क्रमान्मया ।
व्याख्यातानां निर्मितैषा व्याख्या लोकोपयोगिनी ॥ ५ ॥

क्षाम्यन्तु सन्त उत्सर्गं मत्त्वेह स्खलितं यदि ।
मोदतां नीललपनः सभायो दुरविक्रमः ॥ ६ ॥

भक्तिरस्तु महादेवे यावज्जनानां सुनिर्मला ।
भूयास्कीर्तिविकला लोकमोदसन्दोहसत्फला ॥ ७ ॥

शिष्येण मुनिचन्द्रेण चन्द्रेण मुनिनाऽलिपि ।
याचतां पूर्णकामेन विभावस ममार्थने ॥ ८ ॥

गुरवः कस्तूराख्याः परीक्षा मदपायसवः ।
उपकृत्योऽहमिहाऽस्मि शरणं ते वीतरागाय ॥ ९ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिते श्रीमहादेवस्तोत्रे तपोगच्छाऽधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रमुखानेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वर पट्टालङ्कार- समयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयविज्ञानसूरीश्वर पट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीमद्विजयकस्तूरसूरीश्वर- शिष्य पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचिता कीर्तिकलाख्या व्याख्या समाप्ता ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥

॥ अर्हम् ॥

॥ पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकला-
व्याख्यासहितानि पुस्तकानि ॥

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी—(क स श्रीहेम. विरचिताऽयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका च) कीर्तिकला-संस्कृतव्याख्यासहिता ।

२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित ।

३. श्रीवीतरागस्तवः—क. स. श्रीहेम विरचितः कीर्तिकला-संस्कृतव्याख्यासहितः ।

४. श्रीवीतरागस्तव —कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहितः ।

५. स्तोत्रत्रयी—(क स श्री हेम विरचिता) कीर्तिकलासंस्कृत-व्याख्यासहिता ।

६. स्तोत्रत्रयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहित ।

प्राप्तिस्थानः
श्री जनकलाल कान्तिलाल ।
लिम्बडीशेरी पेटलाद
वाया - आणद । (गुजरात)

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-यशस्सद्गुरुभ्यो नमः ।

# कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

# ॥ सकलाऽर्हत्स्तोत्रम् ॥

## पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-

## कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र नामके महाप्रबन्धका प्रारम्भ करते हुए - उक्त महाप्रबन्धकी निर्विघ्न समाप्ति हो - इस कामनासे मंगलाचरण रूपमें सकलार्हत्स्तोत्रकी रचना की थी । जिसमें चौवीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हुए आदिमें आर्हन्त्य - तीर्थंकरत्व - तीर्थंकरके असाधारणभाव - तीर्थंकरपनकी स्तुति करते हैं—

सकलाऽर्हत्प्रतिष्ठानमधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवः स्वस्त्रयीशानमार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

पदार्थ—सकलार्हत्प्रतिष्ठानम्=सकल - सर्व, अर्हत् - तीर्थंकर, प्रतिष्ठा = पूजाके निमित्तभूत । सकलतीर्थंकरोंकी पूजाका हेतुभूत - जिसके होनेसे तीर्थंकर पूजित होते हैं, वह असाधारण

तथा अलौकिक भाव। अथवा सकल तीर्थंकर अधिष्ठान आश्रय हैं जिसके ऐसा, सकल तीर्थंकरोंमें रहनेवाले, तथा, शिवश्रिया=शिव कल्याण मोक्ष, श्री लक्ष्मी समृद्धि, कल्याण या मोक्षसंपदाओंका, अधिष्ठानम्=प्राप्तिका साधनहोनेसे आश्रयभूत, तथा, भूर्भुवः-स्वस्त्रयीशानम्=भूर् नागलोक, भुवर् मर्त्यलोक, स्वर् स्वर्गलोक इनतीनों लोकोंके स्वामीके जैसे सर्वश्रेष्ठ, आर्हन्त्यम्=आर्हन्त्य तीर्थंकरत्व तीर्थंकरपन तीर्थंकरोंके असाधारण एवं अलौकिक अतिशय तथा केवलज्ञान आदि गुणरूप भाव का, प्रणिदध्महे=प्रणिधान मन वचन, तथा शरीरसे तादात्म्यकी साधना करता हूँ — ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—तीर्थंकरोंके सहज आदि अतिशय तथा केवलज्ञान आदि असाधारण एवं अलौकिक गुणरूपी भाव, जो उन तीर्थंकरोंकी लोगोंसे की गयी पूजाके हेतु हैं तथा शुभसम्पदाओं एवं मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्तिके साधन हैं, तथा स्वर्ग-मर्त्य-पाताललोकोंके स्वामीके जैसे सर्वोत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकोंके स्वामित्वका साधनरूप हैं, मैं उन गुणों आर्हन्त्यका ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्र काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥ २ ॥

पदार्थ—सर्वस्मिन्=सभी, क्षेत्रे=क्षेत्रों स्थानोंमें, च=तथा, काले=कालोंमें, तीनों लोकोंमें तथा तीनों कालों में, त्रिजगज्जनम्=

त्रि - तीन, जगत् - लोक, जन - प्राणी, सामान्यरूपसे तीनों लोकोंके
प्राणियोंको, **नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः**=नाम - ऋषभ, महावीर आदि
नाम, आकृति - तीर्थङ्करोंकी प्रतिमा, द्रव्य - तीर्थङ्कर होनेवाले जीव,
भाव - अतिशय, केवलज्ञान आदि भावोसे युक्त तीर्थङ्कर, ऋषभ
महावीर आदि नामोंसे, प्रतिमा आदि रूपसे, तीर्थङ्करभावरहित
ससारी अवस्थासे तथा तीर्थङ्कर रूपसे, **पुनतः**=(सरण, दर्शन, सेवा
तथा उपदेश आदिके द्वारा) पवित्र करनेवाले, **अर्हतः**=अरिहन्तों -
तीर्थङ्करोंकी, **समुपास्महे**=उपासना करता हू ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सभी क्षेत्रों तथा सभी कालोंमें तीनो लोकोंके
प्राणियोंको उनके द्वारा किये गये तीर्थङ्करोंके - नामसरण, प्रतिमा
आदिके दर्शन, वन्दन, ससारी अवस्थामें सेवा, उपदेशोंका श्रवण
तथा पालन आदिसे चित्तशुद्धि होनेके कारण - पवित्र करते हैं।
मै उन तीर्थङ्करोंकी भक्तिभावपूर्वक तन, मन तथा वचनसे उपासना
करता हूं। (जिससे दूसरोंके जैसे हीं मेरे चित्तकी शुद्धि तथा
इष्टसिद्धि हो। क्योंकि चित्तशुद्धिके विना कोईभी शुभकाम सागोपाग
पूरा नहीं हो सकता - ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

**आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम्।**
**आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥**

पदार्थ—**आदिमम्**=सर्वप्रथम, **पृथिवीनाथम्**=पृथिवीके
नाथ - ईश - राजा - पालक, राजाओंमें सर्वप्रथम, **आदिमम्**=सर्व-
प्रथम, **निष्परिग्रहम्**=निष्परिग्रही - स्त्री, पुत्र, राज्य आदि परिग्रहोंसे

रहित सर्वस्वके त्याग करनेवाले, त्यागियोंमें सर्वप्रथम च=तथा, आदिमम्=सर्वप्रथम, तीर्थनाथम्=तीर्थङ्कर, तीर्थङ्करोंमें सर्वप्रथम, ऐसे, ऋषभस्वामिनम्-श्रीऋषभनाथकी, स्तुमः=मैं स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजाओं त्यागियों तथा तीर्थङ्करोंमें सर्वप्रथम हैं, मैं ऐसे श्रीऋषभनाथकी स्तुति करता हूं। (युगादिमें इन्द्रादि देवोंने लोककी व्यवस्थाके लिये श्रीऋषभनाथका राज्याभिषेक किया था। इसलिये पृथिवीमें ये ही सर्वप्रथम राजा हुए थे। तथा लोक-व्यवहारका प्रवर्तन किया था। एवं जन्मसे ही तीनों ज्ञानोंसे युक्त होनेके कारण तथा लोकान्तिक देवोंकी प्रार्थनासे तीर्थप्रवर्तनके लिये सर्वस्वका त्यागकर मोक्षप्राप्तिकी भावनासे श्रीऋषभनाथने ही सर्वप्रथम दीक्षा लीथी तथा चतुर्विध धर्मका उपदेश देकर चतुर्विधसंघ तीर्थ का स्थापन किया था। इसलिये सर्वप्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभनाथ ही हैं—यह ध्यान देने योग्य है) ॥ २ ॥

अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकरभास्करम्।
अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

पदार्थ—विश्वकमलाकरभास्करम्=विश्व जगत्‌रूपी कमलाकर कमलोंके आकर—स्थान—समूह, भास्कर सूर्य, विश्वरूपी कमलसमूहोंके लिये सूर्यसमान, अम्लानकेवलाऽऽदर्शसङ्क्रान्तजगतम्=अम्लान—म्लान—मलिन नहीं ऐसा अति स्वच्छ निर्मल, केवल केवलज्ञान आदर्श दर्पण सङ्क्रान्त प्रतिबिम्बित, गोचर

जगत् विश्वके सर्वद्रव्यपर्याय, जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सर्वद्रव्यपर्याय प्रतिविम्बित - गोचरीभूत है ऐसे, अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं, वैसे जिनके विशुद्ध केवलज्ञानके सभी पदार्थ विषय हैं—जो केवलज्ञानके द्वारा सभी पदार्थोंके जाननेवाले—सर्वज्ञ हैं। अर्हन्तम्=अरिहन्त, तीर्थङ्कर, अजितम्=श्रीअजितस्वामिकी, स्तुवे=(मै) स्तुति करता हू ॥ ४ ॥

भावार्थ—विश्वरूपी कमलाकरके प्रबोधित करनेमें सूर्यसमान, अर्थात् जैसे सूर्य कमलसमूहोंको प्रबोधित - विकसित करते हैं, वैसे ही विश्वके प्रबोधित करनेवाले - विश्वको सन्मार्गका प्रबोध देनेवाले, तथा जिनके अत्यन्त स्वच्छ ऐसे केवलज्ञानरूपी दर्पणमें सम्पूर्ण विश्व प्रतिविम्बित - गोचरीभूत है, अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पणमें सभी पदार्थ स्पष्टरूपसे प्रतिविम्बित होते हैं अथवा जैसे स्वच्छ दर्पण अत्यन्त स्पष्टरूपसे सभी पदार्थोंके प्रतिविम्बका ग्रहण करता है, वैसे हीं जिनके विशुद्ध केवलज्ञानमें सभी द्रव्य तथा उनके पर्याय प्रतिविम्बित - गोचर हैं, अथवा जो विशुद्ध केवलज्ञानके द्वारा स्पष्टरूपसे सभी पदार्थोंका ग्रहण करते है - सभी पदर्थोंको जानते हैं, अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं, ऐसे तीर्थङ्कर श्री अजितस्वामीकी मै स्तुति करता हूं। (यद्वा - जो सर्वज्ञ हैं, तथा सम्पूर्ण विश्वके उपकारक है, उनकी स्तुतिसे हीं इष्टलाभ हो सकता है—ऐसा ध्वनि है) ॥ ४ ॥

**विश्वभव्यजनाऽऽरामकुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।**
**देशनासमये वाचः श्रीसम्भवजगत्पतेः ॥ ५ ॥**

पदार्थ — देशनासमये=(समवसरणमें) देशना देनेके समय में, श्रुताः=आगमोंमें वर्णित, प्रसिद्ध, वह, विश्वभव्यजनाऽऽराम कुल्यातुल्या=विश्व–जगत्, सभी भव्यजन भव्यप्राणी मुक्तिकी योग्यतावाले आराम - उपवन बगीचा, कुल्या नाली नहर, तुल्य–समान। विश्वके सभी भव्यप्राणीरूपी उपवनकी नालीके समान, श्रीसम्भवजगत्पतेः=जगत्पति जगदीश्वर तीनों लोकोंके स्वामी ऐसे जिनेश्वर श्रीसम्भवनाथकी वाचः=वाणी प्रवचन, उपदेश, जयन्ति=सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—( जैसे मालियोंके द्वारा सतत सिंचनसे उपवनके वृक्ष लता आदिका पोषण एवं उसकी वृद्धि होती है वैसे ही देशना-समयमें जिनकी वाणीसे विश्वके सभी भव्यात्मा चित्तविशुद्धिरूप पोषण एवं सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि प्राप्तकरते हैं, अत एव) देशनासमयमें विश्वके सभी भव्यप्राणीरूपी उपवनके लिये नालीके समान जगत्के स्वामी श्रीसम्भवजिनकी वाणी विजय प्राप्तकरती है सर्वोत्कृष्ट है। (यहां जिससे सम्यग्ज्ञान प्राप्तहो तथा जो आत्मकल्याण पोषण करे, वही वाणी सर्वोत्कृष्ट है ऐसा ध्वनि है) ॥ ५ ॥

अनेकान्तमताम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं भगवानभिनन्दनः ॥ ६ ॥

पदार्थ — अनेकान्तमताऽम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः=अनेकान्त मत प्रत्येकपदार्थमें अनन्तधर्मोके प्रतिपादन करनेवाला मत सिद्धान्त दर्शन = स्याद्वाददर्शन अम्भोधि समुद्र, समुल्लासन

उल्लसितकरना - बढ़ाना - विकसितकरना, चन्द्रमा-चन्द्र। अनेकान्त-मतरूपी समुद्रके बढानेमें चन्द्रसमान, **भगवान्**=भग - ऐश्वर्य, धर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, अतिशय। सभी प्रकारके सहज आदि अतिशयसे युक्त, **अभिनन्दनः** = तीर्थंकर श्रीअभिनन्दनस्वामी, **अमन्दम्** = अत्यधिक, अनन्त - शाश्वत एव अखण्ड, **आनन्दम्** = आनन्द, **दद्यात्**=देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—(जैसे चन्द्र समुद्रके समुल्लास - वृद्धि - भरतीका कारण है, वैसे तीर्थंकर स्याद्वादसिद्धान्तके समुल्लास - वृद्धि - प्रचारके कारण हैं, क्योकि वे हीं स्याद्वादसिद्धान्तके उपदेशक हैं। इसलिये) स्याद्वादरूपी समुद्रके समुल्लास केलिये चन्द्र समान जिनेश्वर श्रीअभिनन्दन स्वामी अनन्त, अखड एव शाश्वत आनन्द देवें। (यहा - - स्याद्वादके अनुसारी ज्ञानसे हीं शाश्वत आनन्दमय मुक्तिका लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि स्याद्वाद हीं वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करता है—ऐसा अभिप्राय है) ॥ ६ ॥

**द्युसत्किरीटशाणाऽग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः।**
**भगवान् सुमतिस्वामी तनोत्वभिमतानि वः ॥ ७ ॥**

पदार्थ — **द्युसत्किरीटशाणाऽग्रोत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः** = द्युसत् - देव, किरीट - मुकुट, शाण - सान, कसौटी, अग्र - मुख, सानके ऊपर, उत्तेजित - तेजकिया गया - घसा हुआ, सान चढाया हुआ, नखावलि - नखके समूह, देवोंके मुकुट रूपी सानपर घसाकर तीक्ष्ण तथा चमकते हुए नखोंसे विराजित, **भगवान्** =सर्व

ऐश्वर्यसे युक्त, सुमतिस्वामी = जिनेश्वर श्रीसुमतिस्वामी, वः = आप भव्योंके, अभिमतानि = अभीष्ट, तनोतु = सिद्ध करें मनोरथ पूर्ण करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—(जैसे सानपर घसाकर शस्त्र आदि तीक्ष्ण होते हैं, तथा चमकने लगते हैं, उसीप्रकार सात्त्विक भक्तिके भारसे पाँवोंमें मुकुटका स्पर्शहो इसप्रकार देवोंसे प्रणाम किये जानेके कारण मुकुटोंसे घसकर जिनके पाँवोंके नख तीक्ष्ण हो गये हैं तथा अधिक चमकने लगे हैं। इसलिये) देवोंके मुकुटरूपी सानपर घसाकर तीक्ष्ण एवं चमकते नखवाले भगवान् श्रीसुमतिस्वामी आप भव्योंके मनोरथोंको पूर्णकरें। (यहां जो देवोंसे सेवित होनेके कारण देवाधिदेव हैं, वही मनोरथ पूरा कर सकते हैं—यह ध्वनि है) ॥ ७ ॥

पद्मप्रभप्रभो र्देहभासः पुष्णन्तु वः श्रियम् ।
अन्तरङ्गाऽरिमथने कोपाऽऽटोपादिवाऽरुणाः ॥ ८ ॥

पदार्थ—पद्मप्रभप्रभोः = जिनेश्वरश्रीपद्मप्रभ प्रभु - स्वामीकी, अन्तरङ्गाऽरिमथने = अन्तरङ्ग अन्तरात्माके अहितकरनेके कारण अन्तरंग आत्मसम्बन्धी, अरि शत्रु कर्म कषाय आदिके, मथन नाशकरनेके समय, कोपाऽऽटोपादिव = कोप क्रोधके आटोप आवेशसे इव जैसे अरुणाः = लाललालके समान लाल, देहभासः = देहकी भास अतिशयकान्ति वः = आप भव्योंकी, श्रियम् = सम्पत्तिको, पुष्णन्तु = पोषें बढ़ावें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध आदिमें अपने शत्रुओंके नाशकरनेके समय लोगोंके मुख, आँख आदि अग क्रोधसे लाल होजाते हैं, वैसे हीं कर्म, कषाय आदि अन्तरंग शत्रुओके नाशकरनेमें जैसे क्रोधसेलाल हो गयीहो, इस प्रकारकी श्रीपद्मप्रभस्वामीके देहकी लाल कान्ति आप भव्योंकी सुखसमृद्धि बढाये। यहा - श्रीपद्मप्रभुस्वामी अन्तरग शत्रुओंके नाशकरनेवाले हैं, तथा उनके शरीरकी कान्ति लाल है। इसलिये स्वय श्रीसम्पन्न तथा निर्दोष होनेके कारण लोगोंके श्रीके पोषक हैं — यह स्पष्टार्थ है ॥ ८ ॥

**श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।**
**नमश्चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते ॥ ९ ॥**

पदार्थ—**चतुर्वर्णसङ्घगगनाऽऽभोगभास्वते**=चतुर्वर्ण - चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका - इन चारोंका) सङ्घ - सङ्घरूपीगगन - आकाश, आभोग - विस्तार - विस्तृतगगनमडल, भास्वत् - सूर्य, चतुर्विध सघरूपी विस्तृतगगनके सूर्यसमान, तथा, **महेन्द्रमहिताङ्घ्रये**=महेन्द्र - देव, असुर तथा नरोंके इन्द्र, महित - पूजित, अङ्घ्रि - पाँव, सुरेन्द्र आदिसे पूजित चरणवाले, **श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय**=जिनेश्वरश्रीसुपार्श्वनाथको, **नमः**=मेरा नमस्कार हो ॥ ९ ॥

भावार्थ—(जैसे विशाल गगन मडलमें सूर्य-अप्रतिम तेजस्वी, विश्वप्रकाशक तथा लोकहितकारक हैं। उस प्रकार हीं विशाल-चतुर्विधसघमें जिनेश्वर अप्रतिमतेजस्वी, सदुपदेशके द्वारा विश्वके प्रकाशक तथा अहिंसा आदिके द्वारा विश्वके हितकारकभी हैं।

इसलिये इन्द्रभी उनके चरणोंकी पूजा करते हैं। इसलिये) चतुर्थ सद्रूपी विस्तृतगगनके सूर्यसमान तथा महेन्द्रों द्युरेन्द्र फणीन्द्र तथा नरेन्द्रोंसे पूजित चरणवाले जिनेश्वरश्रीसुपार्श्वप्रभुको मेरा नमस्कार प्रणाम हो। (जो लोगोंके लिये सूर्यसमान तथा विश्ववन्द्य हों, उनको प्रणाम करना ही चाहिये — यह भाव है) ॥ ९ ॥

चन्द्रप्रभप्रभोश्चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला।
मूर्त्ति मूर्तसितध्याननिर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥ १० ॥

पदार्थ — चन्द्रप्रभप्रभोः = श्रीचन्द्रप्रभप्रभु स्वामीकी, मूर्तसितध्याननिर्मिता इव = मूर्त पृथिवी आदिके जैसे रूप, रस आदि गुणोंसे युक्त, सितध्यान शुक्लध्यान, निर्मित बनायी गयी, इव जैसे, जैसे मूर्त ऐसे शुक्लध्यानसे बनायी गयी हो। इस प्रकारकी, तथा चन्द्रमरीचिनिचयोज्ज्वला = चन्द्र, मरीचि किरण निचय राशि, पुंज, उज्ज्वल चन्द्रकी किरणके पुंजोंके समान चमकती, मूर्त्तिः = शरीर बिम्ब वः = आपसभ्योंकी, श्रिये = सुखसमृद्धि केलिये, अस्तु = हो, सुखसमृद्धि देवें ॥ १० ॥

भावार्थ — जैसे मूर्त ऐसे शुक्लध्यानसे बनायी गयी हो इस प्रकारसे सर्वथा निर्दोष एवं पवित्र तथा चन्द्रके किरणपुंजोंके समान चमकती जिनेश्वरश्रीचन्द्रप्रभस्वामीकी मूर्ति आप भव्योंकी सुखसम्पदा बढ़ावे। (मनोहर निर्दोष तथा पवित्र पदार्थ ही स्वयं श्रीसम्पन्न होनेके कारण दूसरेकी श्रीसम्पदा बढ़ाते हैं यह तात्पर्य है) ॥ १ ॥

**करामलकवद्विश्वं कलयन् केवलश्रिया ।**
**अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥११॥**

पदार्थ—**केवलश्रिया**=केवल - केवलज्ञान, श्री - माहात्म्य, ऐश्वर्य, प्रभाव; शक्ति, केवलज्ञानकी महिमासे, **विश्वम्**=लोकालोक को, **करामलकवत्**=कर - हाथ, आमलक - आँवला, वत - समान, हाथके आँवलेके जैसे, **कलयन्**=जानते हुए - जाननेवाले, अत एव, **अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः**=अचिन्त्य - कल्पनातीत, माहात्म्य महिमा, निधि - खान, कल्पनातीतमहिमाकी खानसमान, **सुविधिः**=जिनेश्वर श्रीसुविधिनाथ, **वः**=आप भव्योंके, **बोधये**=सम्यग्ज्ञानके लिये, **अस्तु**=हों । ज्ञानप्रद हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे किसीको अपने हाथमें रहेहुए आँवलेका स्पष्ट ज्ञान होता है, उस प्रकारही जो केवलज्ञानकी महिमासे विश्व के समस्तद्रव्य तथा उनके पर्यायोंको जानते हैं, अर्थात् विश्वको करामलकवत् साक्षात् देखते हैं, ऐसे कल्पनातीत महिमाकी खान-समान जिनेश्वर श्रीसुविधिस्वामी आप भव्योंके ज्ञानप्रद हों । (यहां-जो विश्वका ज्ञाता है, वही यथार्थज्ञान दे सकता है - यह आशय है) ॥ ११ ॥

**सत्त्वानां परमानन्दकन्दोद्भेदनवाऽम्बुदः ।**
**स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी शीतलःपातु वो जिनः ॥ १२ ॥**

पदार्थ—**स्याद्वादाऽमृतनिःस्यन्दी**=स्याद्वाद - अनेकान्तवाद, **अमृत**=अमृत, पानी, नि स्यन्दी-सींचनेवाले, वरसनेवाले, उपदेशक

स्याद्वादरूपी अम
अत एव, सत्त्वा
=परम सर्वोत्तम
टङ्केव-अंकुरस्थना
यातुल। सर्वोर
(मायामयसके)
अंतर्यामी, घ:
सर्वे॥ १२॥

भावार्थ -
[illegible] अंकुर
[illegible] देनेव
में [illegible] देते हैं
तथा [illegible]
पुष्प, [illegible]
शरीर। [illegible]
हो, सरस। [illegible]

भाव
प्रकारसे सर्वथ
समझती भिनेश
स्वरूपमें। (मनोह
होनेके कारण दूसरे [illegible]

[illegible] पुष्पमय रचे। [illegible] हैं [illegible] हैं [illegible]

[illegible] निर्विती।
[illegible] ॥ १४॥

[illegible] = निर
[illegible] ईश्वर,
[illegible] तत्त्वोंके जानक
[illegible] पुष्पसको
[illegible] विशेष
[illegible] ॥ १४॥

[illegible] केवल [illegible] मन ते
[illegible] दोनोंके [illegible] मिले आर्थ
[illegible] एक विशेष
[illegible] (हर्ष, गनेश [illegible])
[illegible] जानती अर्थमें [illegible]
[illegible] होते हैं। [illegible]
[illegible] होते हैं [illegible]

दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंके लिये। **अगदङ्कारदर्शनः**=अगदङ्कार-वैद्य, दर्शन-देखाव, देखना अथवा स्याद्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान दर्शनवाले। अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीडा नष्टहो, तथा जिनके सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये है-ऐसे। तथा, **निःश्रेयसश्रीरमणः**=निःश्रेयस-मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, समृद्धि, रमण-उपभोगकरनेवाले. मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले-सच्चिदानन्द-मय-सिद्धस्वरूप, **श्रेयांसः**=जिनेश्वर श्रीश्रेयासस्वामी, **वः**=आप भव्योंके, **श्रेयसे**=कल्याणके लिये, **अस्तु**=हों, कल्याणप्रद हो ॥ १२ ॥

भावार्थ—(जैसे वैद्य रोग एवं उसकी पीडाको दवा आदिके प्रयोगसे दूरकरता है, वैसे हीं जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने दर्शनसे तथा स्याद्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं। इसलिये) भव-जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाचिक, मानसिक-इन त्रिविधतापों-अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों-से पीडित जनता के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे सासारिक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्याद्वादनामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी या भवरूपी-रोगसे पीडित जनताके लिये वैद्य समान है। अर्थात् जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदुःखकी निवृत्ति होती है। तथा जो मुक्तिके अनंत, अखंड तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले-मुक्त-सिद्धात्मा हैं। ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयासनाथ आप भव्योंके कल्याणकारक हों। अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयासनाथके दर्शन

स्याद्वादरूपी अमृतसमान जलके सींचनेवाले—बरसनेवाले, उपदेशक, अत एव, सत्त्वानाम्=प्राणियोंके, परमानन्दकन्दोद्भेदनवाम्बुद=परम सर्वोत्तम, आनन्द सुख, मोक्षसुख, कन्द कन्दमूल, उद्भेद-अंकुरलाना, प्रकटकरना, नव नवीन, अपूर्व, सर्वोत्तम, अम्बुद बादल। सर्वोत्तम आनन्दरूपी कन्दके अंकुरित-प्रकटकरनेमें नवीन (आषाढ़मासके) बादलके समान जिनः=जिनेश्वर, शीतलः=श्री शीतलस्वामी, वः=आप भव्योंका, पातु=भवान, दुःख आदिसे रक्षा करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—(जैसे नवीन बादल पानी बरसाकर पृथिवीमें रहेहुए कन्दोंमें अंकुर उत्पन्नकरता है, वैसे ही जिनेश्वर अमृतके समान अमरत्वके देनेवाले स्याद्वादधर्मका उपदेश कर मोक्षसुखरूप मर्म प्रगट कर देते हैं। इसलिये) अमृततुल्य स्याद्वादरूपी पानीके सिंचन-उपदेशकरनेवाले मोक्षसुखरूपी कन्दके अंकुर मार्गके प्रगटकरनेमें नवीन (आषाढ़मासके) बादलके समान जिनेश्वर श्रीशीतलस्वामी आप भव्योंका भवसे रक्षण करें। (यहां तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है वह स्याद्वादके सिवाय दूसरा नहीं है। तथा उसके उपदेशक जिनेश्वर ही हैं यह भाव है) ॥ १२ ॥

भवरोगाऽऽर्त्तजन्तूनामगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥ १३ ॥

पदार्थ—भवरोगाऽऽर्त्तजन्तूनाम्=भव संसार रोग दुःख, व्याधि, आर्त्त पीड़ित, जन्तु प्राणी। भवके दुःखों अथवा भवरूपी

दु खोंसे पीड़ित प्राणियोंके लिये । **अगदङ्कारदर्शनः**=अगदङ्कार- वैद्य, दर्शन - देखाव, देखना अथवा स्याद्वादरूपी सिद्धान्त, वैद्यसमान दर्शनवाले । अर्थात् जिनके दर्शनसे भवपीडा नष्टहो, तथा जिनके सिद्धान्तमें भवरोगनाशक उपाय बताये गये है - ऐसे । तथा, **निःश्रेयसश्रीरमणः**=नि.श्रेयस - मोक्ष, श्री-लक्ष्मी, समृद्धि, रमण- उपभोगकरनेवाले. मोक्षकी लक्ष्मीका उपभोगकरनेवाले - सच्चिदानन्द- मय - सिद्धस्वरूप, **श्रेयांसः**=जिनेश्वर श्रीश्रेयासस्वामी, **वः**=आप भव्योंके, **श्रेयसे**=कल्याणके लिये, **अस्तु**=हो, कल्याणप्रद हो ॥ १३ ॥

भावार्थ—( जैसे वैद्य रोग एव उसकी पीडाको दवा आदिके प्रयोगसे दूरकरता है, वैसे ही जिनेश्वर मुक्तहोनेके कारण अपने दर्शनसे तथा स्याद्वादके उपदेशसे भवरोग दूरकरते हैं । इसलिये ) भव - जन्मके कारण होनेवाले कायिक, वाचिक, मानसिक-इन त्रिविधतापों - अथवा जन्म, जरा, मरणरूपी रोगों - से पीडित जनता के लिये जिनका दर्शन वैद्य समान है, अर्थात् जिनके दर्शनमात्रसे सासारिक त्रिविधताप दूरहो जाते हैं, अथवा भवके उच्छेदका उपाय बतानेके कारण जिनका दर्शन-स्याद्वादनामक सिद्धान्त भवसम्बन्धी या भवरूपी - रोगसे पीडित जनताके लिये वैद्य समान है । अर्थात् जिनके देखनेसे तथा उपदेशसे भवदु खकी निवृत्ति होती है । तथा जो मुक्तिके अनत, अखड तथा शाश्वतसुखके उपभोगकरनेवाले - मुक्त - सिद्धात्मा हैं । ऐसे जिनेश्वर श्रीश्रेयासनाथ आप भव्योंके कल्याणकारक हों । अर्थात् लोग भक्तिपूर्वक श्रीश्रेयासनाथके दर्शन

तथा उपदेशसे मनुष्योंसे छुटकारा पावें। (यहाँ जो स्वयं मुक्त हैं, तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशक हैं, वहीं मुक्ति दे सकते हैं यह ध्वनि है) ॥ १३ ॥

विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैःपूज्यो वासुपूज्यःपुनातु वः ॥ १४ ॥

पदार्थ — विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः = विश्व-तीनों लोकोंके प्राणी, उपकारकीभूत उपकारक, तीर्थकृत् तीर्थंकर, कर्म नामकर्म निर्मिति निर्माण उपार्जन तीनों लोकोंके उपकारक ऐसे तीर्थंकर नामकर्मके उपार्जन करनेवाले अत एव, सुरासुरनरैः =देव असुर तथा मनुष्योंसे, पूज्यः=पूजित, वासुपूज्यः=जिनेश्वर श्रीवासुपूज्यनाथ, वः=आप भव्योंको पुनातु=पवित्र करें ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिन्होंने तीर्थंकरनामकर्मका–उसके प्रभाव से सन्मार्गरूप उपदेश देकर तीनों लोकोंके उपकारके लिये उपार्जन किया है ऐसे, सुर, असुर तथा मनुष्योंके पूज्य जिनेश्वर श्रीवासुपूज्यनाथ आप भव्योंको (दर्शन, उपदेश आदिकेद्वारा) पवित्र करें । (यहाँ तीर्थंकर नामकर्मके उपार्जन करनेवाले ही विश्वके उपकारक तथा विश्व पूज्य हो सकते हैं। तथा उनके दर्शन एवं उपदेशसे ही आत्मा पवित्र होती है यह ध्वनि है) ॥ १४ ॥

विमलस्वामिनो वाचः कतकक्षोदसोदराः ।
जयन्ति त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः ॥ १५ ॥

पदार्थ—**विमलस्वामिनः**=जिनेश्वर श्रीविमलनाथकी, **कतकक्षोदसोदराः**=कतक - कतकनामके वृक्षके फल, क्षोद - चूर्ण, सोदर - समान। कतकके चूर्णके समान, **त्रिजगच्चेतोजलनैर्मल्यहेतवः**= त्रिजगत् - तीनों लोक, चेतस् - मन, जल, नैर्मल्य - निर्मलता शुद्धि, हेतु - कारण, करनेवाले। तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तरूपी जल को शुद्ध करनेवाली, **वाचः**=उपदेशवाणी, प्रवचन, **जयन्ति**=सभी अन्य वाणियोंसे अधिक महत्त्वकी है ॥ १५ ॥

भावार्थ—(जैसे कतकके चूर्ण डालनेसे पानी स्वच्छ हो जाता है, उसप्रकार हीं जिनेश्वरकी वाणीसे चित्तशुद्धि होती है - चित्तके सारे दोप दूर हो जाते है। इसलिये) जिनेश्वर श्रीविमलस्वामीकी, कतकके चूर्णके समान तीनों लोकोंके प्राणियोंके चित्तरूपी जलको शुद्ध करनेवाली वाणी - उपदेश अन्य सभी वाणियोंसे अधिक महत्त्व-वाली है। (यहा—जो वाणी चित्तशुद्धिमें सहायक हो, वही सर्वश्रेष्ठ है - ऐसा भाव है) ॥ १५ ॥

**स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा ।**
**अनन्तजिदनन्तां वः प्रयच्छतु सुखश्रियम् ॥ १६ ॥**

पदार्थ—**अनन्तजित्**=जिनेश्वर श्रीअनन्तजित्स्वामी, **स्वयम्भूरमणस्पर्धिकरुणारसवारिणा**=स्वयम्भूरमण - स्वयम्भूरमण नामके अन्तिमसमुद्र, स्पर्धि - स्पर्धा करनेवाले - होड़ करनेवाले, करुणारस - करुणारूपी रस, वारि - पानी, अत्यधिक होनेके करण स्वयम्भूरमण नामके अन्तिम एव अन्य सभी सागरोंसे विशाल समुद्रके साथ भी

होड़ करनेवाले करुणारसरूपी जलसे, वा=भाव मनोज्ञ, अनन्तम् =शाश्वत, अक्षय तथा अनन्त, सुखश्रियम्=सुखसम्पदा, प्रयच्छतु =देवें। अथवा करुणारसवारिणा=करुणारसरूपी जलसे, स्वयम्भूरमणस्पर्धी=स्वयम्भूरमणनामक सागरके साथभी होड़ करनेवाले अनन्तजित्स्वामी-इसप्रकारसे भी यथार्थ सम्भव है। किन्तु इसप्रकार के अर्थके लिये 'स्वयम्भूरमणस्पर्धी' इसप्रकार दीर्घ इकारान्त पद समझना चाहिये ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिनेश्वर श्रीअनन्तजित्नाथ, स्वयम्भूरमणनामके समुद्रके रस जलसेभी अधिक करुणारूपी रससे-असीमकरुणासे भव्योंको अनन्त सुखसम्पदा देवें। (यहां जिनेश्वर असीमकरुणायुक्त हैं तथा उससे अधिक मात्रामें दान दिया जाता है, एवं अनन्तजित्के लिये अनन्तसुखश्रीका दान योग्य ही है यह भाव है।) अथवा-अपनी करुणारूपी रसके द्वारा स्वयम्भूरमण समुद्रको भी जीतनेवाले जिनेश्वर श्रीअनन्तजित्स्वामी आप भव्योंको अनन्तसुखसम्पदा देवें। यहां असीमकरुणा तथा अनन्तजित्के लिये अनन्तसुखसम्पदाका दान ही योग्य है यह सब उपयुक्त अर्थ है) ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमसधर्माणमिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम् ।
चतुर्धाधर्मदेष्टारं धर्मनाथमुपास्महे ॥ १७ ॥

पदार्थ—शरीरिणाम्=प्राणियोंकी इष्टप्राप्तौ=अभिलषितकी प्राप्तिमें मनोरथ पूर्णकरनेमें कल्पद्रुमसधर्माणम्=कल्पद्रुम कल्पवृक्ष, सधर्मा समान कल्पवृक्षसमान, तथा, चतुर्धाधर्मदेष्टारम्=

चतुर्धा - चारप्रकारके, धर्म, देष्टा - उपदेश करनेवाले, दान, शील, तप तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले, धर्मनाथम्=जिनेश्वर श्रीधर्मनाथस्वामीकी, उपास्महे=मै उपासना - भक्ति करता हू ॥ १७ ॥

भावार्थ—(जैसे कल्पवृक्ष सभी मनोरथ पूरा करता है, वैसे ही जिनेश्वर प्राणियोंके सभी इष्ट - मुक्ति आदि देते हैं। इसलिये) प्राणियोंके मनोरथ पूराकरनेमें कल्पवृक्षसमान तथा दान, शील, तप तथा भाव - इन चार प्रकारके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जिनेश्वर श्रीधर्मनाथकी मै उपासना करता हू। (यहा - धर्मसे हीं इष्ट मुक्ति आदिकी प्राप्ति होती है। इसलिये धर्मके उपदेश करनेवालेकी हीं इष्ट - सिद्धिके लिये उपासना करनीचाहिये - यह भाव है) ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः ।
मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

पदार्थ—सुधासोदरवाग्ज्योत्स्नानिर्मलीकृतदिङ्मुखः=सुधा - अमृत, सोदर - तुल्य, वाग् - वाणी, ज्योत्स्ना - चन्द्रिका, किरण, प्रकाश, निर्मलीकृत - प्रकाशित, पवित्रीकृत, दिक् - दिशा, मुख - अन्त, अमृततुल्य वाणी रूपीकिरणोंसे प्रकाशित किया है - पवित्र किया है दिगन्त जिसने - अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिगन्तको प्रकाशित-पवित्रकरनेवाले, मृगलक्ष्मा=मृग - हरिण, लक्ष्म - लाछन, मृगलाछन-वाले - चन्द्र, शान्तिनाथजिन, शान्तिनाथजिनः=जिनेश्वर श्रीशान्ति-नाथ, वः=आप भव्योंके, तमःशान्त्यै=तम - अज्ञान, अन्धकार,

शान्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्धकारके नाशके लिये, अस्तु=दें ॥ १८ ॥

भावार्थ — (जैसे मृगलांछनवाले चन्द्र अपनी अमृततुल्यकिरणों से दिगन्तपर्यन्त प्रकाश फैलाकर अन्धकारका नाशकर देता है, वैसे मृगलांछनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ अपनी अमृततुल्य वाणीसे सभी प्राणियोंके हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये) अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिगन्तके प्रकाशित करनेवाले तथा मृगलांछनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ आप भव्योंके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाशकरें। (यहां जिनेश्वरकी वाणी अज्ञाननाशक है यह ध्वनि है) ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।
सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु वः श्रिये ॥ १९ ॥

पदार्थ—अतिशयर्द्धिभिः=अतिशय प्रसिद्ध अतिशय, सहज (कर्मक्षयज देवकृत प्रातिहार्य) आदि समृद्धि प्रचुरता अधिकता, सहज आदि अतिशयोंकी समृद्धिसे, सनाथः=युक्त विराजित, इसलिये सुरासुरनृनाथानाम्=सुर असुर, नृ मनुष्य तथा उनके नाथ स्वामी इन्द्रादि एकनाथः=एक एकमात्र नाथ स्वामी सर्वश्रेष्ठस्वामी भगवान्=ऐश्वर्यमय तथा प्रचुर धर्म ज्ञान आदिसे युक्त श्रीकुन्थुनाथः=जिनेश्वर श्रीकुन्थुनाथ, वः=आप भव्योंकी श्रिये=सुखसम्पदाके लिये अस्तु=हों। सुखसम्पदा देवें ॥ १९ ॥

भावार्थ—सहज, कर्मक्षयजन्य, देवकृत तथा प्रातिहार्य - इन प्रसिद्ध तथा प्रचुर अतिशयोंसे विराजित, देव, असुर, मनुष्य तथा देवेन्द्र आदिकेभी एकमात्र स्वामी ( देवाधिदेव ) भगवान् जिनेश्वर श्रीकुन्थु-नाथ आप भव्योंकी सुखसम्पदा बढ़ायें। ( यहा - जो ऐश्वर्यशाली है, वही सभीका स्वामी होता है, तथा किसीको ऐश्वर्य देता है—यह भाव है ) ॥ १९ ॥

**अरनाथः स भगवांश्चतुर्थाऽरनभोरविः ।**
**चतुर्थपुरुपार्थश्रीविलास वितनोतु वः ॥ २० ॥**

पदार्थ—**चतुर्थारनभोरविः**=चतुर्थ - चौथा, अर - द्वादशार-कालचक्रका दु षमसुपमानामका भाग, नभ-आकाशमंडल, रवि-सूर्य, चोथा अर रूपी गगनमंडलके सूर्य, **भगवान्**=प्रचुर तथा प्रशंसनीय ऐश्वर्य, ज्ञान आदिसे युक्त, **सः**=प्रसिद्ध, **अरनाथ**=जिनेश्वर श्रीअरनाथ, **व**=आप भाव्योंका, **चतुर्थपुरुपार्थश्रीविलासम्**=चतुर्थ, पुरुषार्थ-मोक्ष, श्री-साधनसम्पदा, विलास - शोभा, चौथे पुरुषार्थ-मोक्षके (ज्ञान, चारित्र आदि) साधनोंकी शोभा, **वितनोतु**=करें - बढ़ायें ॥ २० ॥

भावार्थ—( जैसे सूर्य गगनमडलमे सब ग्रहों नक्षत्रोंसे अधिक प्रकाशवान - ऐश्वर्यशाली है, तथा अपनी किरणोंसे सभी पदार्थोंकी श्रीवृद्धि करता है। उस प्रकार हीं चौथे दु षमसुषमा अरमें जिनेश्वर तीनों लोकोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्षमार्गके प्रदर्शक होनेसे उसकी श्रीवृद्धि करते हैं । इसलिये —) चौथे अर रूपी गगनमडलके सूर्यरूपीभगवान् श्रीअरनाथ आप भव्योंकी ( धर्म - अर्थ-काम मोक्ष - इन

शान्ति=नाश, अज्ञानरूपी अन्धकारके नाशक किये, अस्तु=हों ॥ १८ ॥

भावार्थ—(जैसे मृगलांछनवाले चन्द्र अपनी अमृततुल्यकिरणों से दिगन्तपर्यन्त प्रकाश फलाकर अन्धकारका नाशकर देता है, वैसे मृगलांछनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ अपनी अमृततुल्य वाणीसे सभी प्राणियोंके हृदयको पवित्रकर अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये) अमृततुल्य वाणीरूपी किरणोंसे दिगन्तके प्रकाशित करनेवाले तथा मृगलांछनवाले जिनेश्वर श्रीशान्तिनाथ आप लोगोंके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाशकरें। (यहाँ जिनेश्वरकी वाणी अज्ञाननाशक है यह ध्वनि है) ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान् सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः ।
सुरासुरनृनाथानामेकनाथोऽस्तु वः श्रिये ॥ १९ ॥

पदार्थ—अतिशयर्द्धिभिः=अतिशय प्रसिद्ध अतिशय, सहज १ कर्मक्षयज देवकृत मातिहार्य) आदि समृद्धि प्रचुरता अधिकता, सहज आदि अतिशयोंकी समृद्धिसे सनाथः=युक्त विराजित, इसलिये सुरासुरनृनाथानाम्=सुर, असुर, नृ-मनुष्य तथा उनके नाथ स्वामी इन्द्रोंके, एकनाथः=एक एकमात्र नाथ स्वामी सर्वश्रेष्ठस्वामी भगवान्=प्रशंसनीय तथा प्रचुर धर्म ज्ञान आदिसे युक्त श्रीकुन्थुनाथः=जिनेश्वर श्रीकुन्थुनाथ, वः=आप लोगोंकी, श्रिये=सुखसम्पदाके लिये, अस्तु=हों। सुखसम्पदा देवें ॥ १९ ॥

है तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—ऐसा अभिप्राय है) २१ ॥

**जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूपसमयोपमम् ।**
**मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥**

पदार्थ—**जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूषसमयोपमम्**=जगत् ससार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्यूष - उषाकाल-प्रभात, समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्रणियोंकी महान् अज्ञान-रूपी नींदके तोड़नेमें उषाकालके समान, **मुनिसुव्रतनाथस्य**= जिनेश्वर श्रीमुनिसुव्रतनाथकी, **देशनावचनम्** = उपदेशवाणीकी, स्तुम =स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ -( जैसे प्रात.कालमें सभीकी नींद टूट जाती है, या प्रात काल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेहीं जिनेश्वर अपनी उपदेश वाणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये—) ससारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नींदके तोड़नेमें प्रातःकाल समान, श्रीमुनिसुव्रतनाथकी देशनावाणीकी स्तुति करते हैं। (यहा - ज्ञानप्रद वाणी हीं प्रशसनीय है, अत उसके वक्ता महान आत्मा हैं - यह ध्वनि है ) ॥ २२ ॥

**लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।**
**वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांऽशवः ॥ २३ ॥**

पदार्थ—**नमताम्** = प्रणामकरनेवालोंके, **मूर्ध्नि** - मस्तक पर, **लुठन्त** = फैलती हुई, **वारिप्लवा** =वारि - जल, प्लव-प्रवाह - धारा,

चार पुरुषार्थोंमें) चौथे मोक्षरूपी पुरुषार्थकी ज्ञानचारित्र आदि समस्त सम्पदा करानेमें। (यहां उत्तमोत्तम व्यक्ति ही उत्तमोत्तम महिमाको देखसकता है यह तात्पर्य है) ॥ २० ॥

सुरासुरनराधीशमयूरनववारिदम् ।
कर्मद्रुन्मूलने हस्तिमल्लं मल्लिमभिष्टुमः ॥ २१ ॥

पदार्थ—सुरासुरनराऽधीशमयूरनववारिदम् = सुर, असुर, नर, अधीश इन्द्र मयूर, नव नवीन-मकम जमसे भरा हुआ अथाह महीनेका वारिद बादल, देवेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र आदि समस्त प्राणीरूपी मयूरकेलिये हर्षदेनवाले नवीन बादल रूपी, तथा, कर्मद्रुन्मूलने=कर्म शुभ अशुभ पुण्य, पाप, द्रु वृक्ष, उन्मूलन-उखाड़ना, नाशकरना दूरकरना कर्मरूपी वृक्षके उखाडने में हस्तिमल्लम् =ऐरावत हाथी समान मल्लिम्=जिनेश्वर श्रीमल्लिनाथकी अभिष्टुमः=हम स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ (नवीन काले बादलोंको देखकर मयूर हर्षसे नाच उठता है, देवेन्द्र आदिभी अन्तिम भक्ति होनेके कारण जिनेश्वरको देखते ही अत्यन्त हर्षित हो जाते हैं, क्योंकि जैसे ऐरावत हाथी वृक्षोंको उखाड़ फेंकता है, वैसे ही जिनेश्वरनेभी कर्मरूपी वृक्षका जड़ मूलसे नाशकर दिया है तथा उपदेशके द्वारा दूसरोंके कर्मोंकाभी नाशकरते हैं। इसलिये—)देवेन्द्र आदिरूपी मयूरोंकेलिये नवीन बादलरूपी तथा कर्मरूपी वृक्षको उखाड़ फेंकनेवाले ऐरावतरूपी जिनेश्वर श्रीमल्लिनाथकी मैं स्तुति करता हूँ। (यहां जो समीक्षा

प्रिय है तथा मुक्त है, वही स्तुतिपात्र है—ऐसा अभिप्राय है) ॥ २१ ॥

**जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूपसमयोपमम् ।**
**मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥ २२ ॥**

पदार्थ—**जगन्महामोहनिद्राप्रत्यूपसमयोपमम्**=जगत् संसार, सभी प्राणी, महामोह-महान् अज्ञान, निद्रा - नींद, प्रत्यूष - उषाकाल-प्रभात, समय, उपमा - तुल्य, संसारके सभी प्रणियोंकी महान् अज्ञान-रूपी नींदके तोड़नेमें उषाकालके समान, **मुनिसुव्रतनाथस्य**= जिनेश्वर श्रीमुनिसुव्रतनाथकी, **देशनावचनम्** = उपदेशवाणीकी, स्तुम =स्तुति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ - (जैसे प्रात कालमें सभीकी नींद टूट जाती है, या प्रात काल सभीकी नींद तोड़नेवाला है, वैसेहीं जिनेश्वर अपनी उपदेश वाणियोंके द्वारा सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानका नाशकर देते हैं। इसलिये—) ससारके सभी प्राणियोंके महान् अज्ञानरूपी नीदके तोड़नेमें प्रात.काल समान, श्रीमुनिसुव्रतनाथकी देशनावाणीकी स्तुति करते है। (यहा - ज्ञानप्रद वाणी हीं प्रशसनीय है, अत. उसके वक्ता महान आत्मा हैं - यह ध्वनि है) ॥ २२ ॥

**लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि निर्मलीकारकारणम् ।**
**वारिप्लवा इव नमेः पान्तु पादनखांऽशवः ॥ २३ ॥**

पदार्थ—**नमताम्** = प्रणामकरनेवालोंके, **मूर्ध्नि** - मस्तक पर, **लुठन्त** = फैलती हुई, **वारिप्लवा**.=वारि - जल, प्लव-प्रवाह - धारा,

पानीकी धारा, इव जैसे निर्मलीकारकारणम् = निर्मलीकार शुद्ध करना, कारण-साधन, शुद्धकरनेका साधनरूप शुद्धकरनेवाले, नमे =जिनेश्वर श्रीनमिनाथकी, पादनखांशव =पाद पाँव, नख, अंशु-किरण, पाँवके नखोंकी किरणें, पान्तु=(आप भव्योंकी) रक्षाकरें ॥ २३ ॥

भावार्थ (जैसे पानीकी धारा मलको धोकर माथा आदि अंगोंको पवित्र करती है, वैसे ही जिनेश्वरके पाँवोंके नखोंकी किरणें मस्तकपर पड़नेसे प्रणाम करनेवालोंको पवित्र करदेती हैं। इसलिये-) अतिशय भक्तिसे अत्यन्त झुककर प्रणाम करनेवालोंके मस्तक पर पैलती हुई, एवं पानीकी धाराके समान पवित्र करनेवाली जिनेश्वर श्रीनमिनाथके पाँवोंके नखोंकी किरणें आप भव्योंकी रक्षा करें। (यहाँ जो पवित्र करे, वास्तवमें वही रक्षक है तथा जिनेश्वरके प्रणामसे लोक पवित्र होते हैं ऐसा मालूम है) ॥ २३ ॥

यदुवंशसमुद्रेन्दुः कर्मकक्षहुताशनः ।
अरिष्टनेमिभगवान् भूयाद्रोऽरिष्टनाशनः ॥ २४ ॥

पदार्थ—यदुवंशसमुद्रेन्दुः=यदु यदुनामके राजा वंश सन्तान कुल समुद्र इन्दु चन्द्र यदुकुलरूपी समुद्रकेलिये चन्द्र रूपी कर्मकक्षहुताशन =कर्म पुण्यपाप, कक्ष वन, हुताशन अग्नि कर्मरूपी वनकेलिये अग्निरूपी भगवान्=ज्ञान आदि गुणोंसे विराजित अरिष्टनेमिः=जिनेश्वर श्रीनेमिनाथ वः=आप भव्योंके, अरिष्टनाशनः=अरिष्ट उपसर्ग, उपद्रव, नाशन नाशकरनेवाले सभी

उपद्रवोंके नाशकरनेवाले, **भूयात्**=होवें ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २४ ॥

भावार्थ—(चन्द्र समुद्रको बढाता है तथा अग्नि वनको जला देता है यह प्रसिद्ध है। जिनेश्वरने भी यदुकुलमें जन्म लेकर उसको बढाया-प्रख्यात किया है, तथा ज्ञान एवं चारित्रके बलसे सभी कर्मोंको जला दिया है-नाशकर दिया है। इसलिये) यदुकुल रूपी समुद्रके लिये चन्द्ररूपी तथा कर्मवनके लिये अग्निरूपी जिनेश्वर श्री अरिष्टनेमिनाथ भगवान् आप भव्योंके उपद्रवोंका नाशकरें। (यहां-जो अरिष्टों-उपद्रवोंके लिये नेमि-चक्रधारारूपी हैं, तथा कर्म-सांसारिक उपाधियोंसे रहित हैं, वे ही उपद्रवोंका नाशकर सकते हैं-यह अभिप्राय है) ॥ २४ ॥

**कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति ।**
**प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥ २५ ॥**

पदार्थ—**स्वोचितम्**=अपने अपने स्वभावके अनुरूप, **कर्म**-क्रिया, क्रमश उपसर्ग तथा उसका निवारणरूप क्रिया, **कुर्वति**=करनेवाले-करतेहुए, **कमठे**=कमठनामके असुरके विषयमें, **च**=और, **धरणेन्द्रे**=धरणेन्द्रनामके नागराजके विषयमें, **तुल्यमनोवृत्तिः**=तुल्य-समान, मनोवृत्ति-भावना समानभावनावाले-पक्षपातरहित-समदर्शी-उदासीन-मध्यस्थ, **पार्श्वनाथः**=जिनेश्वर श्रीपार्श्वनाथ, **प्रभुः**=स्वामी, **वः**=आप भव्योंकी, **श्रिये**=सुखसम्पदा केलिये, **अस्तु**=हों, सुखसम्पदा बढायें ॥ २५ ॥

भावार्थ—(जब श्रीपार्श्वनाथ मुनिभावस्थित थे, तो उनके ध्यान भंगकेलिये पूर्वजन्मके वैरके कारण कमठनामके असुरने अनेक उपसर्ग कियेथे, तथा जिनेश्वरभक्त होनेके कारण नागराज धरणेन्द्रने अपनी शक्तिसे उन उपसर्गोंका निवारण कियाथा। फिरभी भगवान् दोनोंके विषयमें समदर्शी थे, किसीके ऊपर उनको राग तथा द्वेष नहीं था। इस कथाके अनुसन्धानसे स्तुतिकरते हैं कि) अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार उपद्रव तथा उसका निवारण करनेवाले कमठ नामके असुर तथा धरणेन्द्रनामके नागराजके विषयमें समदर्शी वीतराग जिनेश्वर श्रीपार्श्वनाथस्वामी आप भव्योंकी सुखसम्पदा करें। (यहां प्रभु वीतराग हैं, तथा वीतराग ही सुखके मूल हैं यह भाव है) ॥ २५ ॥

कृतापराधेऽपि जने कृपामन्थरतारयोः।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥ २६ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं सकलार्हत्स्तोत्रं समाप्तम् ॥

पदार्थ—कृतापराधे=कृत किया है अपराध जिसने ऐसे अपराधकरनेवालेके ऊपर अपि=भी कृपामन्थरतारयोः=कृपा दया मन्थर—स्थिर तारा—आंखके काले भाग आंखके तारे दयासे स्थिर हैं आंखोंके तारे जिनके दयापूर्णदृष्टिवाले अतएव, ईषद्बाष्पार्द्रयोः=ईषत्—कुछ, बाष्प—आंसू आर्द्र भींगे दयासे उमड आये आंसुओंसे कुछभींगे श्रीवीरजिननेत्रयोः=जिनेश्वर परम

तीर्थङ्कर श्रीमहावीरस्वामीके दोनों नेत्रोंका, भद्रम्=मंगल हो। श्रीवीरजिनके नेत्र सकल मंगलकी खान हैं॥ १६॥

भावार्थ—(जिनेश्वर श्रीमहावीरके ध्यानकी इन्द्रसे की गयी प्रशंसाकी परीक्षा करनेकेलिये पृथिवीपर आकर संगमनामके सुरने उनका ध्यान तोडनेकेलिये अनेकों भयंकर उपसर्ग किये, किन्तु असफल होकर लौटनेकेसमय उस असुरके विषयमें 'आततायी इस देवकी क्या गति होगी?' इस आशंकासे श्रीवीरजिनकी आंखोंमें दयासे आंसू उमड़ आये तथा उसको स्थिरदृष्टि-एकटकसे देखने लगे-इस कथाके अनुसन्धानसे स्तुति करते हैं कि-) अपराधकरनेवालेके ऊपरभी दयासे स्थिर तथा आंसूसे भरे जिनेश्वर श्रीमहावीर स्वामीके नेत्रका मंगल हो-वह सर्वमंगलकारक है। (यहां-जो नेत्र अपराधीके ऊपर भी दयापूर्णहों, वैसे नेत्रवाले हीं सकल मंगलकारक हैं, तथा जिनेश्वर अपराधीके प्रतिभी दयालुहीं होते हैं—यह आशय है)॥ २६॥

इति सकलाऽर्हत्स्तोत्रे तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरिप्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीपट्टधर-सिद्धान्तमहोदधि-प्राकृतविद्विशारदचार्यवर्यविजयश्रीकस्तूरसूरीश्वरशिष्यपन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित कीर्तिकलाख्यहिन्दीभाषानुवाद समाप्त॥

# ॥ श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ॥

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यने परिशिष्टपर्वनामके चरित्रग्रन्थ का प्रारम्भ करतेहुए मंगलके लिये श्रीमहावीरस्वामीको प्रणाम करते हैं –

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाऽद्भुतश्रिया ।
महानन्दसरोराजमरालायार्हते नमः ॥ १ ॥

पदार्थ अद्भुतश्रिया=अद्भुत आश्चर्यकारक, श्री-अतिशय सम्पदा, आश्चर्यकारक अतिशयसम्पदाओंसे सनाथाय=युक्त-विराजित, महानन्दसरोराजमरालाय=महानन्द महानन्दरूपी, सरस् *तालाब सरोवर राजमराल मराल हंसके राजा राजहंस महान्* आनन्दरूपी सरोवरके राजहंसस्वरूप अर्हते=अरिहन्त तीर्थंकर जिनेश्वर श्रीमते=श्रीमान् वीरनाथाय=महावीरस्वामीको नमः=मेरा नमस्कार हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(जैसे सरोवरमें राजहंस सर्वाधिक शोभासम्पन्न तथा यथेच्छ विहारकरनेवाला सरोवरके कमल आदि सम्पदाओंका यथेष्ट उपभोग करनेवाला होता है वैसेही जिनेश्वर अनेक अतिशयोंसे विराजित एवं मुक्त होनेसे अनन्त शाश्वत तथा अखंड ऐसे महान् आनन्दका यथेष्ट उपभोग करनेवाले हैं । इसलिये) असाधारण तथा अलौकिक होनेसे आश्चर्यकारक सहज आदि अतिशयोंसे विराजित एवं महान् अनन्त, शाश्वत तथा अखंड आनन्द मोक्षसुखरूपी

सरोवरके राजहंसस्वरूप चरम तीर्थङ्कर श्रीमान् महावीरस्वामीको मेरा प्रणाम हो - मैं प्रणाम करता हूं। (यहां जो अद्भुत अतिशयोंसे विराजित तथा मुक्त हैं, वही नमस्कारयोग्य तथा मंगलकारक हैं— यह भाव है) ॥ १ ॥

**सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् ।**
**देवाधिदेवं सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥**

पदार्थ-**सर्वेषाम्**=सभी, **वेधसाम्**=ज्ञानियोंके अथवा वासुदेव-अर्धचक्रियोंके, **आद्यम्** = मुख्य अथवा प्रथम, तथा, **परमेष्ठिनाम्**= प्रसिद्ध पंच परमेष्ठियोंके, **आदिमम्** = सर्वप्रथम - गणनीय - अग्रगण्य, **देवाधिदेवम्**=देवाधिदेव - देवोंकेभी सेव्य, **सर्वज्ञम्**=सर्वज्ञ - केवल-ज्ञानी, **श्रीवीरम्**=चरम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका, **प्रणिदध्महे**= ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सर्वज्ञ होनेके कारण सभी ज्ञानियोंके मुख्य हैं, अथवा सभी अर्धचक्री वासुदेवोंके प्रथम हैं, ( यहाँ - प्रथम चक्रवर्ती भरतके पुत्र मरीचिका जीव त्रिपृष्ठनामके प्रथम वासुदेव हुए थे, तथा वह त्रिपृष्ठवासुदेवका जीवहीं चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी हुए-ऐसा आगममें वर्णित है,—यह ध्यान देने योग्य है । ) तथा जो अतिशयों, निर्हेतुककृपा एवं सभी प्राणियोंका उपकार आदिगुणोंके कारण, अर्हत् - सिद्ध - आचार्य - उपाध्याय साधु - इन पंच परमेष्ठियोंमें अर्हत् - शब्दसे सर्वप्रथम कहे जाते हैं तथा अग्रगण्य हैं, ऐसे देवाधिदेव-देवोंकेभी पूज्य सर्वज्ञ चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीका मैं ध्यान

करता हूँ । (यहाँ ज्ञानकी कामनावालेकेलिये उपर्युक्तगुणविशिष्ट तीर्थंकर ही ध्येय हैं - यह अभिप्राय है) ॥ २ ॥

> कल्याणपादपाऽऽरामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् ।
> विश्वाम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥ ३ ॥

पदार्थ कल्याणपादपाऽऽरामम्=कल्याण शुभ, पादप-वृक्ष, आराम उपवन, बगीचा कल्याणरूपी वृक्षोंकेलिये उपवनरूपी, श्रुतगङ्गाहिमाचलम्=श्रुत आगम, गङ्गा गंगानदी हिमाचल-हिमालय पर्वत, आगमरूपी गंगानदीकेलिये हिमालयपर्वतरूपी, विश्वाम्भोजरविम्=विश्व संसार संसारके सभी प्राणी अम्भोज-कमल रवि-सूर्य, संसारी प्राणीरूपी कमलोंकेलिये सूर्यरूपी, देवम् = देवाधिदेव, श्रीज्ञातनन्दनम्=श्रीज्ञात इक्ष्वाकुवंशकी शाखा ज्ञातकुल नन्दन-पुत्र हर्षवर्धक, (चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी)को वन्दे=मैं वन्दन करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—(जैसे उपवनमें अच्छे वृक्षोंका पोषण, संवर्धन एवं रक्षण होता है, उसप्रकार ही आप कल्याणके पोषण संवर्धन तथा रक्षण करनेवाले कल्याणमन्दिर हैं । तथा, जैसे हिमालय पर्वत गंगा नदीका उद्गमस्थान है वैसे ही आप आगमों के उद्गमस्थान-आधार हैं । तथा सूर्य जैसे कमलोंको प्रबोधित विकसित करता है वैसे ही आप संसारी प्राणीको सदुपदेशोंके द्वारा प्रबोधित करते हैं—सम्यग् ज्ञान देते हैं । इसलिये) कल्याणरूपी वृक्षोंके उपवनरूपी, आगमरूपी गंगानदीके हिमालयपर्वतरूपी तथा संसारप्राणीरूपी कमलोंके सूर्यरूपी

ज्ञातकुलोद्भव चरमतीर्थंकर देवाधिदेव श्रीमहावीर स्वामीकी मै वन्दना करता हूँ। (यहा-शुभकारक, शास्त्रप्रवर्त्तक, ज्ञानप्रद तथा उच्चकुलोत्पन्न एव देवोंकेभी वन्दनीय ही वन्दनीय हो सकते हैं—यह भाव है) ॥ ३ ॥

**पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः ।**
**भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥ ४ ॥**

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित श्रीवीरजिनस्तोत्र समाप्तम् ॥

पदार्थ—**भव्यानाम्**=भविष्यमें सिद्धि प्राप्तकरनेवाले-भव्य-प्राणियोंके, **आन्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः**=आन्तर-अन्तरग, मल-दोष-राग, द्वेष, कषाय आदि, प्रक्षालन-धोना, शुद्ध करना, दूर करना, जल, उपमा-समान, अन्तरग-रागद्वेष कषाय आदि-दोषोंके दूरकरनेमे निर्मलजलसमान, **श्रीमहावीरस्वामिनः** = चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीकी, **देशनागिरः**=उपदेशवाणी-प्रवचन, **वः**=आप-भव्योंकी, **पान्तु**=रक्षाकरें, आत्मशुद्धिके द्वारा कल्याणप्रद हों ॥ ४ ॥

भावार्थ—(जैसे निर्मल जल-शरीर वस्त्र आदिके मैलको साफ करदेता है, वैसेहीं तीर्थंकरकी वाणी सम्यग् ज्ञानका प्रतिपादन करनेके कारण आत्माके दोषों-रागद्वेष कषाय आदि-को दूर करनेवाली है। इसलिये) भव्यप्राणियोंके अन्तरग दोषोंके दूरकरनेमें निर्मल-जलसमान, चरमतीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीकी देशनावाणी आपकी रक्षाकरें-अन्तरग दोषोंको दूरकर आत्माकी शुद्धि करें। (यहा-

अन्तरंग दोषोंके दूर करनेवाले ही वास्तविक रक्षक हैं—यह आशय है) ॥ ४ ॥

इति श्रीवीरजिनस्तोत्रे तपोगच्छाधिपति-शासनसम्राट्-कदम्बगिरि प्रमुखानेकतीर्थोद्धारक-बालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कार-समयज्ञ-शान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधर-सिद्धान्त महोदधि प्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-पन्न्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित कीर्तिकलाख्यहिन्दीभाषाऽनुवादः समाप्तः ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥



पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचितकीर्तिकलाव्याख्यसहितानि पुस्तकानि—

१. द्वात्रिंशिकाद्वयी (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाऽन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका च) कीर्तिकलाव्याख्याविभूषिता।

२. द्वात्रिंशिकाद्वयी—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित।

३. वीतरागस्तव:—कीर्तिकलाव्याख्याविभूषित.।

४. वीतरागस्तव:—कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित।

५. स्तोत्रत्रयी (सकलाऽर्हत्स्तोत्र-वीरजिनस्तोत्र-महादेवस्तोत्राणि) कीर्तिकलाहिन्दीव्याख्यासहिता।

६. स्तोत्रत्रयी - कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहित।

७. अध्यात्मसार:-कीर्तिकलाव्याख्यासहित (यन्त्रस्थ.)। (सम्पूर्ण-भागों में)।

प्राप्तिस्थान —

श्रीजनकलालकान्तिलाल।

लिम्बडीशेरी, पेटलाद,

वाया-आणन्द, (गुजरात)।

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजय-नेमि-विज्ञान-कस्तूर-सूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

# कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं

# ॥ श्रीमहादेवस्तोत्रम् ॥

## पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित-कीर्तिकलाहिन्दीभाषाऽनुवादसहितम् ।

श्रेय प्राप्तिकेलिये महादेवकी आराधना करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है। महादेव हीं शिव, महेश्वर आदि शब्दोंसे सम्बोधित किये जाते हैं। किन्तु उनके स्वरूपके विषयमें सम्प्रदायोंका भिन्न भिन्न मत है। इसलिये कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यजीने महादेवके पारमार्थिक स्वरूपके परिचयकेलिये श्रीमहादेवस्तोत्रकी रचना की है। जिसमें शिव, महेश्वर, महादेव आदि शब्दोकी व्याख्याके द्वारा श्रीमहादेवस्तोत्रका प्रारम्भ करते हैं—

**प्रशान्त दर्शन यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।**
**मङ्गल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥ १ ॥**

पदार्थ—यस्य=जिस देवका, दर्शनम्=देखाव, देखना, प्रशान्तम्=शान्त, शमभावनाका उद्बोधक, आत्मामें रहे हुए उपशमभावका

व्यञ्जक, जो उग्र तथा उद्वेगजनक नहीं हो ऐसा, तथा, सर्वभूताऽभयप्रदम्=सभी प्राणियोंको अभय देनेवाला, जो किसीके लिये भी भयकारक नहीं हो ऐसा, तथा, मङ्गल्यम्=मङ्गलकारक एवं मङ्गलस्वरूप, एवं, प्रशस्तम्=शुभ, प्रशंसनीय तथा इष्ट है, तेन=दर्शनाथ प्रशान्त आदि होनेके कारण, शिवः=शुभ, शिव ऐसे, विभाव्यते=समझे जाते हैं कहे जाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ–जिस देवका देखाव शान्त है तथा भयकारक नहीं है, तथा मंगलकारक एवं प्रशंसनीय है। अथवा जिस देवके देखनेसे शान्ति मिलती है तथा भय नहीं होता, तथा मंगल होता है, इसलिये जिस देवका देखना शुभ तथा इष्ट है। अत वह देव शिव कहे तथा समझे जाते हैं। (जिस देवका देखाव अस्वाभाविक–भनेक नेत्र मुख आदिसे तथा कोप आदिसे एवं शस्त्र आदिसे युक्त होनेके कारण उग्र एवं भयप्रद तथा भग्न एवं मुण्डमाला आदिसे युक्त होनेके कारण अमंगल एवं निन्दनीय है। अथवा उग्र एवं विकृत अंग तथा शस्त्रादिसे युक्त होनेके कारण जिस देवके देखनेसे क्षोम, भय एवं अमंगल होते हैं, इसलिये जिसका देखना अनिष्ट है। वह देव शिव नहीं कहे जा सकते। क्योंकि शिवशब्दका अर्थ शुभ तथा शुभकारक–ऐसा ही होता है। इसलिये अन्यतीर्थिकोंके शिव, जो विकृत अंगवाले कोपी दिगम्बर एवं शस्त्रादिसहित कहे गये हैं, वह शब्दमात्रसे ही शिव है, अर्थसे नहीं–ऐसा अभिप्राय है) ॥ १ ॥

प्रस्तुत श्लोकका दूसरा अर्थभी हो सकता है। जैसे-यस्य=जिस देवसे प्रतिपादित, दर्शनम्=दर्शन सिद्धान्त, प्रशान्तम्=शान्त

है, तथा, **सर्वभूताऽभयप्रदम्**=सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला है। तथा, **मङ्गल्यम् च**,=कल्याणकारक है, तथा, **प्रशस्तम् च**=प्रशसनीय तथा इष्ट है। **तेन**=उक्त गुणोंके कारण (वह देव) **शिवः**=शिव-शुभप्रद, **विभाव्यते**=कहे तथा माने जाते हैं॥ १॥

भावार्थ—जिस देवका सिद्धान्त मुक्तिका प्रतिपादन करनेके कारण शान्तिकी राह बताता है, इसलिये प्रशान्त है। तथा अहिंसा आदिके उपदेशके द्वारा सभी प्राणियोंके अभय देनेवाला, शुभमार्गके उपदेश देनेके कारण कल्याणकारक है, इसलिये वह दर्शन प्रशंसनीय तथा इष्ट है। वह देव शिव शब्दसे कहे जाते हैं, तथा शिव समझे जाते हैं। (अन्यतीर्थिकोंके प्रसिद्ध शिवका दर्शन-सिद्धान्त हिंसा आदिसे होनेवाले यज्ञ आदिका प्रतिपादन करनेके कारण अशान्त, भयप्रद एव अशुभानुबन्धी है, इसलिये अमगल तथा निन्दनीय है। अत वह देव शब्दमात्रसे शिव हैं, अर्थसे नही-ऐसा अभिप्राय है॥ १॥

**महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः।**
**रागद्वेषविनिर्मुक्त वन्देऽहं त महेश्वरम्॥ २॥**

पदार्थ—**यः**=जिस देवने, **महत्त्वात्**=महिमासे, **च**=तथा, **ईश्वरत्वात्**=ऐश्वर्यसे, **महेश्वरताम्** = महेश्वरपन-बड़प्पन, **गतः**= प्राप्त किये हैं, **रागद्वेषविनिर्मुक्तम्**=राग तथा द्वेषसे विनिर्मुक्त-रहित= वीतराग ऐसे, **तम्**=उस, **महेश्वरम्**=महेश्वर कहे जानेवाले देवकी,

अहम्=मैं, वन्दे=वन्दना करता हूँ मैं उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस देवने सर्वकर्मक्षय तथा केवल-दर्शन, ज्ञान चारित्र आदि असाधारण एवं अलौकिक गुणरूपी महिमासे तथा सहज आदि अतिशयरूपी ऐश्वर्यसे महेश्वरपन प्राप्त किये हैं—महेश्वर कहे गये हैं। मैं वीतराग ऐसे उस महेश्वर देवको प्रणाम करता हूँ। (जिन परतीर्थिकोंके महेश्वरकी महिमा अलौकिक एवं असाधारण नहीं, किन्तु जगतका पालन संहार आदि लौकिकही कही गयी है, तथा सहज आदि अतिशय नहीं कहे गये हैं एव स्त्री आदि परिग्रह सनुनिग्रह-अनुग्रह आदिके कारण जो वीतराग नहीं हैं। वे शब्दसे ही महेश्वर हैं, अर्थसे नहीं। इसलिये वे मुमुक्षुओंके प्रणम्य नहीं – ऐसा अभिप्राय है) ॥ २ ॥

महाज्ञानं भवेद्यस्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
महादया-दम-ध्यानं महादेवः स उच्यते ॥ ३ ॥

पदार्थ—यस्य=जिस देवका महाज्ञानम्=महान्-अन्य ज्ञानों की अपेक्षासे उत्तम, विशुद्ध, नित्य एवं अनन्त, ज्ञान केवलज्ञान, लोकालोकप्रकाशकम्=लोक संसार तथा संसारमें रहनेवाले भूत भविष्य तथा वर्तमान सभी द्रव्य तथा उसके पर्याय, अलोक-संसारसे बाहरका आकाश=उन सबोंका प्रकाशक प्रगट करनेवाला=जानने वाला है, अथवा लोकालोकप्रकाशक होनेके कारण जिसका ज्ञान महाज्ञान है तथा, महादया दम-ध्यानम्=महान् सभीजीवोंके प्रति

होनेसे अन्यकी अपेक्षासे उत्कृष्ट ऐसी दया तथा, महान् - असाधारण, दम इन्द्रियमनोनिग्रह, एव महान् - निर्विकल्पक होनेसे सर्वोत्तम, ध्यान - शुक्लध्यान है, सः=वह देव, महादेव =महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस देवका लोक तथा अलोक दोनोंके जानने वाला ऐसा महान् ज्ञान है, अर्थात् जो देव केवलज्ञानी है, अथवा जिस देवका महान् ज्ञान लोक तथा अलोक दोनोंका प्रकाशक है। तथा जिस देवकी दया, दम तथा ध्यान महान् है, अर्थात् जिस देवकी दया सर्वजीवोंके प्रति है, दम कभी भग नहीं होनेके कारण असाधारण है, एव ध्यान निर्विकल्पसमाधिरूप शुक्लध्यान है, वह देव महादेव कहे जाते है। (अन्य तीर्थिकोंके महादेव शब्दसे ही महादेव हैं। क्योंकि वे केवलज्ञानी नहीं है, तथा सृष्टिका सहार करनेके कारण उनकी दया महान् नहीं है, उनका दमभी उनके परिग्रही होनेके कारण महान् नहीं है, तथा ध्यान भी रौद्र होनेके कारण महान् नहीं है - यह तात्पर्य है) ॥ ३ ॥

**महान्तस्तस्करा ये तु तिष्ठन्तः स्वशरीरके ।**
**निर्जिता येन देवेन महादेवः स उच्यते ॥ ४ ॥**

पदार्थ—**स्वशरीरके**=अपने शरीरमें, **तु**=ही, **ये**=जो, **तिष्ठन्तः**=रहे हुए, रहनेवाले, **महान्ताः**=बहुत बड़े, **तस्कराः**=चोर हैं, वह, **येन**=जिस, **देवेन**=देवसे, **निर्जिताः**=जीते गये हैं, **सः**=वह देवही, **महादेवः**=महादेव, **उच्यते**=कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—अपने शरीरमें ही जो धन, पशु आदि चुरानेवाले चारोंकी अपेक्षासे अधिक बलवान् तथा लौकिक चोर जिसको नहीं चुरा सकते ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि आत्माके सर्वस्वके चुराने-वाले इन्द्रियरूपी महान् चोर रहे हुए हैं उनको जिस अनन्तज्ञान आदिसे युक्त देवने जीत लिए हैं वह जितेन्द्रिय देव ही महान् चोरोंके जीतनेके कारण महादेव कहे जाते हैं। (किन्तु परतीर्थि-कोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहवाले हैं, इसलिये वे अपने शरीरमें रहे हुए उन महान् चोरोंके जीतनेवाले नहीं हैं। किन्तु उन चोरोंके ही अधीन हैं। अतः वे सम्यग्नामसे ही महादेव हैं—यह भाव है)॥ ४॥

रागद्वेषौ महामल्लौ दुर्जयौ येन निर्जितौ।
महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नामधारकाः॥ ५॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, रागद्वेषौ=रागद्वेषरूपी, दुर्जयौ=दुर्जय बड़े कष्टसे जीतने योग्य, महामल्लौ=महान् मल्ल पहलवानों-को निर्जितौ=जीतलिये हैं तम्=उस देवको तु=ही महादेवम्=महादेव, मन्ये=मैं मानता हूं। शेषाः=अवशिष्ट उस देवके अतिरिक्त दूसरे देव अन्यतीर्थिकोंके महादेव, वै=तो, नामधारकाः=महादेव ऐसे नामधारण करनेवाले ही हैं। (किन्तु वास्तवमें महान् देव होनेके कारण महादेव नहीं हैं)॥ ५॥

भावार्थ—जिस देव (जिनेश्वर)ने रागद्वेषरूपी (अनादि कालसे रहनेके कारण अत्यन्त बलवान् होनेसे) दुर्जय ऐसे महान्

मलोंको जीत लिये है, अर्थात् आत्मामें अनादिकालसे रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ होनेसे दुस्त्याज्य ऐसे रागद्वेषोंका जिस देवने त्याग कर दिया है, उन देव (वीतराग जिनेश्वर)को हीं मै महादेव मानता हू। अर्थात् दूसरे देवोंसे अजेयके जीतनेवालेको हीं महादेव कहना योग्य है। अन्य तीर्थिकोंके देवतो नामसे हीं महादेव हैं। (अर्थ तथा गुणसे नहीं। क्योंकि वे स्त्री आदिका परिग्रह तथा शत्रु आदिके निग्रह आदिमें प्रवृत्त होनेसे रागद्वेषके हीं अधीन हैं, उसके जीतनेवाले नहीं। इसलिये वे वास्तविकरूपसे महादेव नहीं हैं - यह अभिप्राय है) ॥ ५ ॥

**शब्दमात्रो महादेवो लौकिकानां मते मतः ।**
**शब्दतो गुणतश्चैवाऽर्थतोऽपि जिनशासने ॥ ६ ॥**

पदार्थ—**लौकिकानां**=लौकिक विषयोंकी प्राप्तिसे हीं कृतार्थ ऐसे साधारण जनों (अन्यतीर्थिकों)के, **मते**=मतमें, **मतः**=माने गये, **महादेवः**=महादेव, **शब्दमात्रः**=नाममात्र हीं हैं। किन्तु, **जिनशासने**=जिनेश्वरसे उपदिष्ट सिद्धान्तके अनुसार माने गये महादेव, **शब्दतः**=नामसे, **अर्थतोऽपि**=अर्थसे भी, **गुणतश्चैव**=और गुणसे भी, (महादेव हैं) ॥ ६ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्वरहित तथा वस्तुके अनेकान्तात्मक स्वरूप के नहीं जाननेवाले लौकिक पदार्थ स्त्री, पुत्र तथा धन आदिको हीं सर्वस्व माननेवाले मुक्तिमार्गसे वञ्चित ऐसे लौकिक - अन्यतीर्थिकोंके मतमें माने गये महादेव नाम मात्रसे महादेव हैं (गुण तथा अर्थसे

नहीं। क्योंकि वे जितेन्द्रिय वीतराग आदि गुणोंसे युक्त नहीं हैं।) जिनशासनमें माने गये जिनेश्वररूपी महादेव तो शब्द महादेव ऐसे नामसे, एवं महान् — केवलज्ञान आदि होनेके कारण अन्यदेवोंसे श्रेष्ठ देव ऐसे अर्थसे तथा ऊपर वर्णित गुणोंसे भी महादेव हैं ॥ ६ ॥

> शक्तितो व्यक्तितश्चैव विज्ञानाल्लक्षणात्तथा ।
> मोहजालं हतं येन महादेवः स उच्यते ॥ ७ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, मोहजालम्=मोह ममताके जाल समूहको सभी प्रकारकी ममताओंको नाशकर दिया है त्याग कर दिया है सः=वह देव, शक्तितः=शक्तिसे व्यक्तितश्चैव=तथा व्यक्तित्वसे विज्ञानात्=वि विशिष्टज्ञान केवलज्ञानसे तथा=और, लक्षणात्=लक्षणसे महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं। अथवा जिस देवने शक्तितः=अपने क्षायिक अनन्त आत्मवीर्यसे तथा केवलज्ञानरूप प्रमाणसे व्यक्तितः=एक एक करके, मोहोंका नाशकिया है वह लक्षणात्=मोहनाशरूप लक्षणसे, महादेव कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस (जिनेश्वर) देवने सभी प्रकारकी ममताओंका त्याग कर दिया है वही मायका नाश करनेवाले सकल कर्मके क्षयसे आविर्भूत अनन्त आत्मवीर्य तथा सहज आदि शक्तिवाले असाधारण तथा अलौकिक व्यक्तित्व एवं केवलज्ञान और कहे गये तथा आगे कहे जानेवाले लक्षण इन सभी गुणोंके होनेसे महादेव

कहे जाते है। अथवा जिस देवने अपने क्षायिक अनन्त आत्मवीर्य और केवलज्ञानके प्रभावसे एक एक करके मोहोंका नाश कर दिये हैं, ऐसे वह (जिनेश्वर) देवही महादेव कहे जाते है। (अन्यतीर्थिकों के महादेव, स्त्रीपुत्र आदिमे ममत्व होनेके कारण तथा उक्त प्रकारके शक्तिआदि गुण नहीं होनेके कारण गुणसे या अर्थसे महादेव नहीं हैं-यह आशय है) ॥ ७ ॥

**नमोऽस्तु ते महादेव! महामदविवर्जित! ।**
**महालोभविनिर्मुक्त! महागुणसमन्वित! ॥ ८ ॥**

पदार्थ - **महामदविवर्जित!**=हे महान् मद-उद्दण्डता-अहङ्कारसे, विवर्जित रहित, निरभिमानी **महालोभविनिर्मुक्त!**=हे महान् लोभसे, विनिर्मुक्त रहित, निर्लोभी, **महागुणसमन्वित!**=हे महान् गुणोंसे समन्वित-विभूषित!, **महादेव!**=हे महादेव!, जिनेश्वर, **ते**=आपको, **नमः**=(मेरा) नमस्कार, **अस्तु**=हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—ज्ञान आदिका उत्कर्ष रहने पर भी उसके मदसे रहित होनेके कारण तथा किसीभी प्रकारके मद नहीं रहनेके कारण महान् निरभिमानी, किसीभी प्रकारके परिग्रह नहीं रहनेसे तथा सभी प्रकारके लोभसे रहित होनेके कारण महान् निर्लोभी, असाधारण एव अलौकिक निरभिमानता, निर्लोभता, सभी प्राणियोका उपकार तथा केवल ज्ञान आदि महान् गुणोंसे विभूषित ऐसे हे महादेव! जिनेश्वर! आपको मेरा नमस्कार-प्रणाम है। (अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो वल आदिके अभिमान तथा श्मशानवास,

मृत्य आदि मदजनोंके योग्य क्रियाओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त मद्य पूजानैवेद्य आदिका लोभ होनेके कारण महान् लोभी, अत एव उत्तम गुणोंसे रहित होनेके कारण महादेव नहीं हैं, इसलिये वन्दनीय भी नहीं है ऐसा अभिप्राय है ) ॥ ८ ॥

महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च ।
कषायश्च हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ९ ॥

पदार्थ—येन=जिस देवने, महारागः=महान् जिसका त्याग अशक्य है ऐसा, अत्युत्कट, राग विषयासक्ति तथैव च=और महाद्वेषः=महान्—अत्युत्कट द्वेष अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति, एवं, महामोहः=महान् मोह ममत्व च=तथा, कषायः=कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ इन सभीका हतः=नाश किये हैं, त्याग किये हैं सः=ऐसे वह ( जिनेश्वर ) देव ही, महादेवः=महादेव, उच्यते =कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—( अन्य धारण एवं अलौकिक अतिशय शक्ति, ज्ञान आदिसे युक्त) जिस देवने (अनादि कालसे रहनेके कारण) महान्-अत्यन्त दृढ एवं दुर्जय ऐसे राग, द्वेष, तथा महान्- विवेकको भ्रष्ट करनेवाले मोह एवं महान् क्रोध मान माया तथा लोभरूप कषाय-इन सभीका त्याग कर दिये हैं। वह देव ही महादेव कहे जाते है। (इन सभी गुणोंसे युक्त जिनेश्वर ही हैं इसलिये वही महादेव है अन्य तीर्थिक इष्ट महादेवके यह सब गुण नहीं हैं अतः वे नामधारी महादेव ही हैं—यह आशय है ) ॥ ९ ॥

**महाकामो जितो येन महाभयविवर्जितः ।**
**महाव्रतोपदेशी च महादेवः स उच्यते ॥ १० ॥**

पदार्थ—**येन**=जिस देवने, **महाकामः**=महान् अत्यन्त उत्कट काम - कामना - वासना - कामिनीजिज्ञासा आदिका, **हतः**= नाश - त्याग किया है, तथा जो, **महाभयविवर्जितः**=महान् भयसे विवर्जित-रहित हैं, **च**=तथा, **महाव्रतोपदेशी**=महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, **सः**=वह देव ही, **महादेवः**=महादेव, **उच्यते**=कहे जाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ - जिस देवने अत्यन्त उत्कट ऐसी भोग तथा उपभोगकी इच्छारूपी महाकामका (चारित्रके पालन आदिसे) त्याग - दमन किया है, अर्थात् जो सर्वथा निष्काम हैं, तथा जो (सकल कर्मोका क्षय करनेसे) जन्म जरा मरण आदिरूप भवके महान् भयोंसे रहित - अत्यन्त निर्भय हैं। एव सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूपी पाच महान् व्रतोंके उपदेश करनेवाले हैं, वह देव ही महादेव कहे जाते हैं। (जिनेश्वरमें यह सभी गुण हैं, इसलिये वही महादेव है। अन्य तीर्थिकोंके महादेव तो स्त्री आदि परिग्रहोंसे युक्त होनेके कारण कामी, शत्रु आदिसे भयभीत एव हिंसासे होनेवाले निकृष्ट यज्ञ आदिके उपदेशक होनेसे शब्दसे ही महादेव हैं गुणोंसे नहीं-यह तात्पर्य है ) ॥ १ ॥

**महाक्रोधो महामानो महामाया महामदः ।**
**महालोभो हतो येन महादेवः स उच्यते ॥ ११ ॥**

पदार्थ—येन=जिस देवने महाक्रोधाः=महान् अनन्त क्रोध, महामानाः=महान् अत्यधिक मान अभिमान अहंकार, महामाया=महान् अपार माया—शठता, महामदः=महान् अत्यधिक मद बल विद्या ऐश्वर्य आदिके अभिमानसे हुई उद्दतता, तथा, महालोभः=महान् अत्यन्त लोभ, इन सभी दोषोंका, हतः=नाश किये हैं—त्याग कर दिये हैं, सः=वह देव, महादेवः=महादेव, उच्यते=कहे जाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ - जिस देवने (ज्ञान तथा चारित्रके बलसे) अत्यन्त उत्कट, हिंसादिमें प्रवृत्ति करानेवाला तथा स्थायी एवं अधिक परिमाणमें होनेके कारण महान् क्रोध गुरु आदिकी अवज्ञा करानेवाले तथा अत्यधिक होनेके कारण महान्-विद्या कुल बल आदिका अभिमान अपार माया, अविनय आदिका प्रेरक तथा अन्तरंग बल आदिके अभिमानसे होनेवाली महान् उद्दतता एवं दुस्त्याज्य होनेसे महान् लोभ इन सभी दोषों-कषायोंका नाश-त्याग किया है। अथवा जो देव कषाय रहित एवं निर्मद हैं वह देव ही महादेव कहे जाते हैं। (वीतराग ज्ञानी एवं संयमी होनेके कारण जिनेश्वर उक्त सभी क्रोध आदि कषायों तथा मदसे रहित हैं इसलिये वही महादेव हैं। अन्यतीर्थियोंके महादेव पुराण आदिमें क्रोधी मानी आदि रूपमें वर्णित हैं, इसलिये वह महादेव नहीं हैं— ऐसा अभिप्राय है) ॥ ११ ॥

महानन्ददया यस्य महाज्ञानी महातपाः ।
महायोगी महामौनी महादेवः स उच्यते ॥ १२ ॥

पदार्थ—**यस्य**=जिस देवके, **महानन्ददये**=आनन्द तथा दया महान् सर्वोत्कृष्ट हैं। तथा जो देव, **महाज्ञानी**=महान् सर्वद्रव्य-पर्यायविषयक होनेसे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी-ज्ञानवाले, केवलज्ञानी **महातपाः**= महान् दूसरोंसे अत्यधिक तपस्वी, **महायोगी**=महान्-असाधारण योगी, **महामौनी**=महान् - विशुद्ध मौनी - मौनव्रतपालक तथा मुनिके महान् - उत्कृष्टलक्षणोंसे युक्त है। **सः**=वही, **महादेवः**=महादेव, **उच्यते**=कहे जाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस देवका आनन्द महान्-शाश्वत, अखण्ड, अनन्त एव निरुपाधिक तथा निर्विकल्प होनेके कारण सर्वोत्तम है, तथा जिस देवकी दया महान्-सब जीवोंके प्रति समान रूपसे होनेके कारण अन्यदेवोंकी अपेक्षासे अत्यधिक है। तथा जो देव अनन्त तथा सर्वपदार्थविषयक होनेसे महान् ज्ञानवाले-केवलज्ञानी, दुष्कर, विशुद्ध एव अत्यधिक अनशन आदि तप करनेके कारण महान् तपस्वी, सहज आदि अतिशयोंका कारणभूत होनेसे असाधारण एव अलौकिक योगसे युक्त तथा मुनियोंके सर्वोत्तमभावों एव क्रियाओंसे युक्त हैं। वह देवहीं महादेव कहे जाते हैं। (परतीर्थिक देव उक्त सभी गुणोंसे रिक्त होनेके कारण वास्तविक रूपसे महादेव नहीं कहे जा सकते—ऐसा भाव है) ॥ १२ ॥

**महावीर्यं महाधैर्यं महाशील महागुणः।**
**महामञ्जुक्षमा यस्य महादेवः स उच्यते ॥ १३ ॥**

पदार्थ—**यस्य**=जिस देवके, **महावीर्यम्**=वीर्य-आत्मबल महान्-सर्वाधिक हैं, **महाधैर्यम्**=धैर्य-सन्तोष महान् - सर्वोत्कृष्ट हैं, **महाशीलम्**

=शील-चारित्र महान्-असाधारण एवं सर्वोत्तम है, महागुणा=गुण-सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदिगुण महान् असाधारण एवं अलौकिक है, तथा महाक्षमाम्भुक्षमा=जिनकी क्षमा अपराधकी सहनशीलता महान् प्रशंसनीय सर्वाधिक अत एव मंजु-मनोहर है, सः=वह देव, महादेवः =महादेव उच्यते=कहे जाते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस देवके आनन्द एवं उत्साह क्षायिक होनेके कारण अनन्त है, सन्तोष कभी अल्प नहीं होनेके कारण स्थिर एवं सर्वाधिक हैं चारित्र असाधारण अलौकिक एवं सर्वोत्कृष्ट हैं सम्यग्दर्शनआदि गुण अप्रतिपाती एवं अनन्त हैं, क्षमा प्रशंसनीय एवं असाधारण हैं वह देवही महादेव कहे जाते हैं। (अन्यतीर्थिक देवोंके ये गुण नहीं हैं। क्योंकि ये रागद्वेष आदिसे अभिभूत हैं। इसलिये वे महादेव नहीं कहे जा सकते। किन्तु जिनेश्वर ही उक्त गुणोंसे शोभित होनेके कारण महादेव हैं—यह अभिप्राय है) ॥ १३ ॥

स्वयम्भूतं यतो ज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम्।
अनन्तवीर्यचारित्रं स्वयम्भूः सोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

पदार्थ—यतः=जिस देवके, लोकालोकप्रकाशकम्=लोक तथा अलोक दोनोंका प्रकाशक-जाननेवाला, ज्ञानम्=केवलज्ञान, स्वयम्भूतम्=स्वयं-गुरुके उपदेशके बिना ही अपने आप मूर्त-प्रगट हुआ है, तथा जिस देवके, अनन्तवीर्यचारित्रम्=चारित्र तथा वीर्य अनन्त हैं, अथवा स्वयम्भूतं स्वयं-किसी देव आदिकी कृपा आदिके बिना ही

अपने आप भूत प्राप्त हैं, **सः**=वह देवही, **स्वयम्भूः**=स्वयम्भू, **उच्यते**=कहे जाते हैं ॥ १४ ॥

भवार्थ—जिस देवके लोकालोकके परिच्छेद करनेवाला-तीनों कालमें सर्वद्रव्यपर्यायका ग्रहण करनेवाला-केवल-ज्ञान गुरु आदिके उपदेशके विना हीं जन्मसे हीं ज्ञानत्रय युक्त होनेके कारण चारित्र-पालनसे कर्मोंके नाश हो जानेसे अपने आप प्रगट हो गया है। तथा जिस देवके चारित्र एव आत्मबल क्षायिक होनेसे अनन्त हैं, अथवा जिस देवके लोकालोकप्रकाशकज्ञान तथा अनन्तवीर्य एव चारित्र स्वयमूत=कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जानेसे (बादलोंके हट जानेसे सूर्यके जैसे) अपने आप प्रगट हो गये हैं, वह देवहीं स्वयम्भू कहे जाते हैं। (ऐसे स्वयमूत-ज्ञान, वीर्य तथा चारित्रवाले जिनेश्वर हीं हैं, दूसरे देव नहीं। इसलिये जिनेश्वर हीं एकमात्र परमार्थ रूपसे स्वयमू हैं, दूसरे तो नामधारी हीं है—यह भाव है) ॥ १४ ॥

**शिवो यस्माज्जिनः प्रोक्तः शङ्करश्च प्रकीर्तितः ।**
**कायोत्सर्गी च पर्यङ्की स्त्रीशस्त्रादिविवर्जितः ॥ १५ ॥**

भावार्थ—**यस्मात्**=चूंकि, **जिनः**=जिनेश्वरदेव - ऋषभनाथ आदि तीर्थङ्कर, **कायोत्सर्गी**=कायोत्सर्ग मुद्राके धारण करनेवाले, **च**=तथा, **पर्यङ्की**=पर्यङ्कासनके धारण करनेवाले, एव, **स्त्रीशस्त्रादि-विवर्जितः**=स्त्री, शस्त्र आदिसे रहित हैं—स्त्री शस्त्र आदिका त्याग कर दिये हैं, इसलिये वे, **शिवः**=शिव, **प्रोक्तः**=कहे गये हैं, **च**=

तथा शङ्करः=शङ्कर, प्रकीर्तित'=कहे गये हैं—शिव तथा शङ्कर शब्दोंसे उनका वर्णन किया जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—चूंकि जिनेश्वर भगवन्नाथ आदि तीर्थंकर ही किसी भी जीवकी विराधना नहीं हो ऐसे कार्योत्सर्गमुद्राके धारण करने वाले एवं निर्विकल्प, निष्कम्प तथा निरुपाधिक समाधिके लिये पर्यङ्कासनसे रहनेवाले तथा स्त्री शस्त्र आदि परिग्रहसे रहित हैं। अर्थात् चारित्रका यथावत् पालन हो इसलिये जिन्होंने उचित मुद्रा एवं आसनका स्वीकार किया है तथा स्त्री शस्त्र आदि सभी परिग्रहों-का त्याग कर दिया है। इसलिए ये जिनेश्वरदेव ही शिव कल्याण मय एवं कल्याणमय होनेके कारण शिव तथा शङ्कर शब्दोंसे कहे गये हैं वर्णित है। (दूसरे देव तो स्त्री शस्त्र आदि परिग्रह होनेसे असमाहित चित्तवाले एवं जीव विराधनाके विवेकके बिना ही यथेच्छ, निन्दनीय मुद्रा एवं आसनके धारण करनेवाले, अथवा आसन एवं मुद्रासे रहित होनेके कारण शिवस्वरूप एवं कल्याण कारक नहीं हैं किन्तु शस्त्रादि धारण करनेसे भयङ्कर एवं अनिष्ट करनेवाले ही है। इसलिये वह नाममात्रसे ही शिव तथा शङ्कर हैं, गुण तथा अर्थसे नहीं यह अभिप्राय है) ॥ १५ ॥

साकारोऽपि ह्यनाकारो मूर्तोऽमूर्तस्तथैव च ।<br>
परमात्मा च बाह्यात्मा सोऽन्तरात्मा तथैव च ॥ १६ ॥

पदार्थ—हि=चूंकि, सः=जिनेश्वरदेव साकारः=शरीरी है, इसलिये, मूर्तः=रूप, स्पर्श आदि गुणवाले सगुण है। च=और

तथैव=उसी प्रकार **अनाकारः**=( सिद्ध अवस्थामें ) आकार-शरीर रहित हैं इसलिये, **अमूर्त्तः**=रूप स्पर्श आदि गुणरहित - अव्यक्त है । च=पुन, तथैव=उस प्रकार हीं, **परमात्मा**=सिद्धस्वरूप, च=तथा, बाह्यात्मा=औदारिकादि शरीररहित तथा सिद्धि रहित केवल कर्म शरीरसे युक्त, तथा, **अन्तरात्मा**=देही है ॥ १६ ॥

भावार्थ—श्रीजिनेश्वर देव सिद्धिलाभसे पूर्व शरीरी होनेके कारण आत्माके स्वभावत· अमूर्त होने परभी उसके प्रदेशोंके कर्मयुक्त होनेसे कथंचित् मूर्त - व्यक्त है । तथा सिद्ध अवस्थामें शरीररहित होनेसे अमूर्त - पौद्गलिक उपाधिरूप गुणसे रहित-अव्यक्त हैं । तथा तीर्थङ्कर एव सिद्ध अवस्थामें परमात्मा, विग्रहगति कालमें बाह्यात्मा एव देही अवस्थामें अन्तरात्मा भी हैं । (इसलिये अन्यतीर्थिक देवके वर्णित सगुण आदि रूप परमार्थसे जिनेश्वरमें हीं घटित होते हैं । अन्य देवके विषयमें तो शब्दमात्र हीं हैं - यह भाव है) ॥ १६ ॥

**दर्शनज्ञानयोगेन परमात्माऽयमव्ययः ।**
**परा क्षान्तिरहिंसा च परमात्मा स उच्यते ॥ १७ ॥**

पदार्थ—**अयम्**=यह जिनेश्वर देव, **अव्यय**·=अविनाशी - मुक्त होनेके कारण जन्म मरणादिरूप अपाय रहित, तथा, **दर्शन-ज्ञानयोगेन**=दर्शन - सम्यग्दर्शन तथा केवलदर्शन एवं ज्ञान - सम्यग्ज्ञान तथा केवलज्ञानके योग - सम्बन्धसे, **परमात्मा**=परम - सर्वोत्कृष्ट आत्मा हैं । तथा सांसारिक अवस्थामें भी, **क्षान्तिः**=क्षमा,

च=तथा, अहिंसा, परा=कभी नष्ट नहीं होनेवाली, असाधारण, सर्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट है, इसलिये, स =वह आत्मा ही, परमात्मा=परम महत्त्व गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ — वह जिनेश्वरदेव तीर्थङ्कर अवस्थामें सकल कर्मशून्य हो जानेसे नित्य अनन्त दर्शन ज्ञान होनेके कारण जन्म मुक्त जन्म जरा मरण आदि अवस्थासे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है। तथा सांसारिक अवस्थामें क्षमा तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवविषयक होनेके कारण वह सगुण परमात्मा है। (क्योंकि परमगुणोंके होनेसे ही आत्माको परमात्मा कहा जाता है। अन्य देव ज्ञान, दर्शन एवं क्षमा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा हैं—ऐसा तात्पर्य है) ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिसम्प्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तरे ।
अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविधः शिवः ॥ १८ ॥

पदार्थ—सिद्धिसम्प्राप्तौ = सिद्धि मिल जाने पर अर्थात् मुक्त अवस्थामें परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा तु=तथा भवान्तरे=दो भवोंके मध्यकी अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिकालमें, बाह्यात्मा=बाह्य औदारिक आदि चार शरीरसे बहिर्मुख आत्मा तथा देहे=देहस्थ होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें अन्तरात्मा=अन्तर देहके मध्यवर्ती आत्मा भवेत्=है, इतिः=इस प्रकार एषः=

प्रशान्तदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत, शिव =शिव - जिनेश्वर, त्रिविधः=तीन प्रकारके है ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रशान्त दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वरही अन्तरात्मा, वाह्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोसे युक्त हैं। जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें अनन्त-दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा वीर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाते हैं। क्योंकि सिद्ध आत्मासे अधिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मामें नहीं होते। इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है। तथा सिद्धिकी प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव छोड़कर जिनेश्वरकी आत्मा परभव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें रहती है, तब वह वाह्यात्मा हैं। क्योकि उस अवस्थामें वह आत्मा कार्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे वाहर रहता है। इसलिये वाह्य - वाहर रहनेवाली आत्मा - वाह्यात्मा हैं। एवं जन्म ग्रहणके वाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहनेवाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप हैं। (अन्य तीर्थिकोके शिवमें इस प्रकारसे तीनों अर्थ घटित नहीं होनेके कारण वह नामधारी हीं है—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ॥
पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—दोषसम्पूर्णः=दोष - कर्म जन्म, राग द्वेष आदिसे सम्पूर्ण - सहित होनेपर सकलः = कला - भवावस्थामें होनेवाले

च=तथा, अहिंसा, परा—कभी नष्ट नहीं होनेवाली, अलौकिक, असाधारण, सर्वाधिक, सर्वोत्कृष्ट है इसलिये, स=वह आत्मा ही, परमात्मा=परम महत्त्व गुणवान् आत्मा परमात्मा, उच्यते=कही जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—वह जिनेश्वरदेव तीर्थङ्कर अवस्थामें सकल कर्मक्षय हो जानेसे नित्य अनन्त दर्शन ज्ञान होनेके कारण अन्यथा मुक्त, जन्म जरा मरण आदि अपायोंसे रहित अविनाशी निर्गुण परमात्मा है। तथा सांसारिक अवस्थामें क्षमा तथा अहिंसा आदि गुणोंके सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक तथा सर्वजीवविषयक होनेके कारण वह सगुण परमात्मा है। (क्योंकि परमगुणोंके होनेसे ही आत्माको परमात्मा कहा जाता है। अन्य देव ज्ञान, दर्शन एवं क्षमा अहिंसा आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण नाम मात्रसे ही सगुण निर्गुण परमात्मा है—ऐसा तात्पर्य है) ॥ १७ ॥

परमात्मा सिद्धिसम्प्राप्तौ बाह्यात्मा तु भवान्तरे।
अन्तरात्मा भवेद्देहे इत्येष त्रिविधः शिवः ॥ १८ ॥

पदार्थ—सिद्धिसम्प्राप्तौ = सिद्धि मिल जाने पर, अर्थात् मुक्त अवस्थामें परमात्मा=परम-सर्वोत्कृष्ट आत्मा परमात्मा, तु=तथा, भवान्तरे=दो भवोंके मध्यकी अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिकालमें, बाह्यात्मा बाह्य औदारिक आदि चार शरीरसे बहिर्भूत आत्मा, तथा देहे=देहस्थ होनेपर अर्थात् देही अवस्थामें, अन्तरात्मा= अन्तर देहके मध्यवर्ती आत्मा भवेत्=है इति=इस प्रकार एष =

प्रशान्तदर्शन आदि गुणोंसे विराजित - प्रस्तुत शिव =शिव - जिनेश्वर, त्रिविध.=तीन प्रकारके हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रशान्त दर्शन आदि गुणोंसे युक्त शिव जिनेश्वरही अन्तरात्मा वाह्यात्मा तथा परमात्मा-इन त्रिविध रूपोसे युक्त हैं। जैसे—सिद्धि प्राप्त होनेपर. अर्थात् मुक्त अवस्थामे अनन्त-दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा वीर्य आदि सिद्ध होनेसे वह परमात्मा कहे जाते हैं। क्योंकि सिद्ध आत्मासे अधिक उत्कृष्ट गुण अन्य आत्मा नहीं होते। इसलिये वह परम-सर्व श्रेष्ठ आत्मा है। तथा सिद्धि-की प्राप्तिसे पूर्व जब भवावस्थामें जन्म ग्रहण केलिये पूर्व भव छोडकर जिनेश्वरकी आत्मा परभव ग्रहण करने केलिये विग्रहगतिमें रहती है, तब वह वाह्यात्मा हैं। क्योंकि उस अवस्थामें वह आत्मा कार्मण शरीरके सिवाय अन्य सभी शरीरोंसे वाहर रहता है। इसलिये वाह्या - वाहर रहनेवाली आत्मा - वाह्यात्मा हैं। एवं जन्म ग्रहणके वाद शरीरस्थ रहनेके कारण अन्तर - शरीरमें रहने-वाली आत्मा - अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार जिनेश्वर त्रिविध आत्मस्वरूप हैं। (अन्य तीर्थिकोंके शिवमे इस प्रकारसे तीनो अर्थ घटित नहीं होनेके कारण वह नामधारी हीं है—ऐसा भाव है) ॥ १८ ॥

**सकलो दोषसम्पूर्णो निष्कलो दोषवर्जितः ॥**
**पञ्चदेहविनिर्मुक्तः सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥ १९ ॥**

पदार्थ—दोषसम्पूर्णः=दोष - कर्म. जन्म, राग द्वेष आदिसे सम्पूर्ण - सहित होनेपर सकलः = कला - भवावस्थामें होनेवाले

दोषोंसे सहित सकल सगुण हैं। दोषवर्जित:=दोष उक्त प्रकारके रागादि दोषोंसे वर्जित रहित होनेपर मुक्त अवस्थामें, पञ्चदेहविनिर्मुक्त:=पञ्च पांच, देह शरीरोंसे विनिर्मुक्त रहित, तथा परमम्=सर्वोच्च, सर्वोत्कृष्ट - सिद्धिशिलास्वरूप, पदम्=पद स्थानको, सम्प्राप्त:=प्राप्तकरने पर, निष्कल:=उक्त प्रकारकी कलासे रहित निर्गुण हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिनेश्वर देव, सांसारिक अवस्थामें संसारमें होनेवाले कर्मजनित जन्म, जरा मरण, राग, द्वेष आदि दोषों से अथवा कलारूप दोषसे युक्त रहते हैं। इसलिये उस अवस्थामें वे सकल=कला सत्त्व,रजस् तथा तमस् इनतीनों गुणोंसे युक्त होनेसे सगुण हैं। तथा चारित्र पालन आदिके प्रभावसे उक्त दोषोंसे रहित होनेपर उन दोषोंके कारण होनेवाले औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस तथा कार्मण इन पांच शरीरोंसे मुक्त होकर सिद्धशिला रूप परम पदको प्राप्त करलेते हैं, उस अवस्थामें निष्कल=कलासे रहित-निर्गुण हैं। (दूसरे देव तो परिग्रह आदिके कारण दोष सम्पूर्ण ही हैं। इसलिये वह नामधारी निष्कल या निर्गुण है वास्तविक रूपसे तो सदा सकल या सगुण ही हैं — यह भाव है) ॥ १९ ॥

एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
त एव च पुनरुक्ता ज्ञानचारित्रदर्शनात् ॥ २० ॥

पदार्थ—(जिनेश्वर) एकमूर्ति:=मूर्ति-स्वरूप - शरीर-व्यक्तिसे एक है, और, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा:=ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर

इन नामोंके, त्रय =तीन, भागा =भाग - अंश-पर्याय हैं । च=तथा, ते=वे तीनों भाग, एव = हीं, ज्ञानचारित्रदर्शनात् = ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दोंसे क्रमश , पुनर्=फिरसे - शब्दान्तरसे, उक्ता = कहे गये हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनेश्वर रूपी एक मूर्त्ति हैं, तथा उसके ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - इन नामोंके तीन पर्याय है । वह तीनों पर्याय हीं ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन शब्दो से कहे जाते है । अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एव ज्ञान, चारित्र तथा दर्शन ये शब्द क्रमश पर्याय शब्द हैं । इस प्रकार अन्यदर्शनमें बताये गये (एक मूर्त्ति तीन भाग) जिनेश्वर हीं है । दूसरे देवके विषयमें 'एक मूर्त्ति तीन भाग' यह उक्ति असगत है, जिसका प्रतिपादन आगे किया जायगा—यह जानना चाहिये । ॥ २० ॥

**एकमूर्त्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।**
**परस्पर विभिन्नानामेकमूर्त्तिः कथ भवेत् ? ॥ २१ ॥**

पदार्थ—**एकमूर्त्ति**=एक मूर्त्ति, और, **ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः**= ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर - ये, **त्रय** =तीन. **भागा**=भाग - अंश हैं । किन्तु, **परस्परम्**=परस्पर, एक दूसरेसे, **विभिन्नानाम्**=विभिन्न - पृथक् स्वरूप - शरीरवालोंकी, **एकमूर्त्ति**=एक शरीर, **कथम्**=कैसे, **भवेत् ?** = हो सकती है ? अर्थात् परस्पर भिन्न शरीरवालोंकी तीन मूर्त्तिया होंगी, एक नहीं ॥ २१ ॥

भावार्थ—अन्यतीर्थिकोंका अभिप्राय है कि ब्रह्मरूप एक व्यक्तिके ही ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर ये तीनों अंश हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर तीनों परस्पर एक दूसरेसे भिन्न स्वरूपवाले हैं। तो इन तीनोंकी एक मूर्ति या एक मूर्तिके ये तीनों भाग कैसे हो सकते हैं? (एक मूर्तिके तीन अवयव हो सकते हैं किन्तु पृथक् रही हुई तीन मूर्तियां एक मूर्ति या एक मूर्तिके भागरूप तीन मूर्तियां नहीं हो सकती। जो जिसका भाग होता है वह एकत्र नहीं रहनेसे अपूर्ण होता है। यहाँ तो ब्रह्म सम्पूर्ण हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वरसी पृथक् पृथक् सम्पूर्ण ही हैं। इसलिये एकका दूसरा भाग है ऐसा कहना अयुक्त है—ऐसा तात्पर्य है) ॥ २१ ॥

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।
कार्यकारणसम्पन्ना एकमूर्तिः कथं भवेत् ? ॥ २२ ॥

पदार्थ—विष्णु=विष्णु नामक देव कार्यम्=कार्य-फल-पुत्र है ब्रह्मा=ब्रह्मा नामके देव क्रिया=क्रियारूप द्वार हैं तु=तथा, महेश्वरः=महेश्वरनामके देव कारणम्=कारण-निमित्त है। इस प्रकार, कार्यकारणसम्पन्नाः=कार्यकारण भावको प्राप्त हुई तीन मूर्तियां, एकमूर्तिः=एकमूर्ति कथम्=कैसे भवेत् हो सकती हैं, अर्थात् नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

भावार्थ—पौराणिकोंका कहना है कि—महेश्वरकी प्रेरणासे ब्रह्माके शरीरसे विष्णु प्रगट हुए। ऐसी स्थितिमें महेश्वर निमित्त

हुए, ब्रह्मा द्वार हुए, तथा विष्णु कार्य हुए। (जैसे दण्ड निमित्त है, चक्रका घूमना द्वार है, घट कार्य है । यहाँ ब्रह्मा बीचमें रहनेसे चक्रके घूमनेके जैसे द्वार माने गये है—यह ध्यान देने योग्य है।) इस प्रकार ये तीनों कार्यकारणभावको प्राप्त हैं। तो एक मूर्त्ति कैसे हो सकते हैं? । (एक ही व्यक्तिमे कार्यकारणभाव नहीं होता, किन्तु भिन्न व्यक्तियोंमे होता है, जैसे दण्ड तथा घटमे । दण्ड तथा घट एक मूर्त्ति है—ऐसा तो बालकभी नहीं कह सकता। इसलिये तीनोंकी एकमूर्त्ति नहीं हो सकती। किन्तु जिनेश्वरके ही उक्त प्रकारसे एक मूर्त्तिके तीन भाग हैं—ऐसा अभिप्राय है) ॥ २२ ॥

**प्रजापतिसुतो ब्रह्मा माता पद्मावती स्मृता ।**
**अभिजिज्जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिः कथं भवेत्?॥ २३ ॥**

पदार्थ—**ब्रह्मा**=ब्रह्मानामके देव, **प्रजापतिसुत**=प्रजापति द्विजके पुत्र हैं। तथा, **माता**=ब्रह्माकी माता, **पद्मावती**=पद्मावती नामकी, **स्मृता**=कही गयी हैं। एव, **जन्मनक्षत्रम्**=ब्रह्माके जन्म समयका नक्षत्र, **अभिजित्**=अभिजित् नामका है। तो, **एकमूर्त्तिः**=एकमूर्त्ति, **कथम्**=कैसे, **भवेत्**=हो सकती है? । अर्थात् नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

भावार्थ—(एक मूर्तिके हीं भिन्न भिन्न अवस्थाओंके सूचक ये नाम हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योकि इन तीनोंके माता पिता आदि भिन्न भिन्ननामके है। जैसे-) ब्रह्मा नामके देव प्रजापति नामक द्विजके पुत्र हैं उनकी माताका नाम पद्मावती है। तथा

जन्मनक्षत्र अभिजित् है। ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति कैसे हो सकती है?। (एक व्यक्तिके ही भिन्न भिन्न माता पिता तथा जन्म नक्षत्र नहीं होते। इसलिये ब्रह्मा विष्णु एवं महेश्वर एक मूर्तिके तीन भाग नहीं हैं—ऐसा अभिप्राय है। पुराणमें प्रजापतिके पुत्रको ब्रह्माका अवतार कहा गया है। उसके अनुसार यहाँ माता पिता मानिका उल्लेख है। ऐसे तो ब्रह्मा विष्णुके नाभिकमलसे उत्पन्न तथा सृष्टिके कर्ता माने जाते हैं—यह ध्यान देने योग्य है)॥ २३॥

वसुदेवसुतो विष्णुर्माता च देवकी स्मृता।
रोहिणी जन्मनक्षत्रमेकमूर्तिः कथं भवेत्?॥ २४॥

पदार्थ—विष्णुः=विष्णु नामक देव—कृष्ण, वसुदेवसुतः=वसुदेवनामक राजाके पुत्र हैं। च=तथा, माता=कृष्णकी माता देवकी=देवकी नामकी स्मृता=कही गयी है। जन्मनक्षत्रम्=कृष्णके जन्म समयका नक्षत्र, रोहिणी=रोहिणी नामका है। तो एकमूर्तिः=एकमूर्ति कथम्=कैसे भवेत्?=हो सकती है?॥२४॥

भावार्थ—विष्णु वसुदेव राजाके पुत्र हैं, उनकी माताका नाम देवकी है और उनका जन्मनक्षत्र रोहिणी है। ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं?। (एक ही व्यक्तिके अनेक माता पिता नहीं हो सकते। इसलिये एक मूर्ति तीन भाग कहना असंगत है। पुराणोंमें कृष्णको विष्णुका अवतार कहा गया है। तदनुसार यहाँ उपर्युक्त बातें कही गयी हैं यह जानना चाहिये) ॥ २४॥

**पेढालस्य सुतो रुद्रो माता च सत्यकी स्मृता ।**
**मूलं च जन्मनक्षत्रमेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २५ ॥**

पदार्थ—**रुद्र.**=रुद्र - महेश्वर, **पेढालस्य**=पेढालनामकद्विजके, **सुत**·=पुत्र हैं। **च**=तथा, **माता**=रुद्रकी माता, **सत्यकी**=सत्यकी नामकी, **स्मृता**=कही गयी है। **च**=तथा. **जन्मनक्षत्रम्**=रुद्रके जन्मका नक्षत्र, **मूलम्**=मूलनामका है। तो, **एकमूर्त्ति**=एकमूर्त्ति, **कथम्**=कैसे, **भवेत्**=हो सकती है ? ॥ २५ ॥

भावार्थ—रुद्र, जो पुराणोंमें महेश्वरके अवतार कहे गये हैं, वह पेढाल द्विजके पुत्र है, उनकी माताका नाम सत्यकी है, तथा जन्मनक्षत्र मूल है। ऐसी स्थितिमें एकमूर्ति तीन भाग कैसे हो सकते हैं ? (जो तीन भाग कहे गये हैं, उनके प्रत्येकके माता पिता तथा जन्मनक्षत्र भिन्न भिन्न हैं। किन्तु एकमूर्त्तिके माता आदि एक ही होते हैं। इसलिये ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर एकमूर्त्तिके तीन भाग नहीं है—यह आशय है) ॥ २५ ॥

**रक्तवर्णो भवेद्ब्रह्मा श्वेतवर्णो महेश्वरः ।**
**कृष्णवर्णो भवेद्विष्णुरेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २६ ॥**

पदार्थ—**ब्रह्मा**=ब्रह्मानामके देव, **रक्तवर्ण**=लाल कान्तिवाले, **भवेत्**=है। **महेश्वर**=महेश्वरनामके देव, **श्वेतवर्ण**=शुक्ल कान्तिवाले है। तथा, **विष्णु**=विष्णुनामके देव, **कृष्णवर्ण**=कृष्णकान्तिवाले, **भवेत्**=है। तो, **एकमूर्त्ति**=एकमूर्त्ति, **कथम्**=कैसे, **भवेत्**=हो सकते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें तीनों देवोंकी शरीरकान्ति भिन्न भिन्न वर्णकी कही गयी हैं। जैसे ब्रह्मा लाल कान्तिवाले, महेश्वर श्वेत कान्ति वाले तथा विष्णु कृष्ण कान्तिवाले कहे गये हैं। किन्तु एक मूर्तिकी एक प्रकारकी ही कान्ति होती है, अनेक प्रकारकी नहीं। इसलिये भिन्न भिन्न वर्णके होनेके कारण तीनों देव भिन्न ही हैं, एक मूर्तिके तीन भाग नहीं। इसलिये उन तीनों देवोंको एक मूर्ति तीन भाग कहना अयुक्त है ऐसा अभिप्राय है ॥ २६ ॥

अक्षसूत्री भवेद्ब्रह्मा द्वितीयः शूलधारकः।
तृतीयः शङ्खचक्राङ्क एकमूर्तिः कथं भवेत्? ॥ २७ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मा नामके देव, अक्षसूत्री = अक्षसूत्रके लांछनवाले भवेत्=हैं द्वितीय=दूसरे, अर्थात् महेश्वर नामके देव, शूलधारक =शूल त्रिशूलके धारक-धारण करनेवाले अर्थात् त्रिशूल-लाञ्छनवाले तथा, तृतीयः=तीसरे विष्णुनामके देव, शङ्ख चक्राङ्क =शङ्ख तथा चक्रके अङ्क-लाञ्छनवाले कहे गये हैं। तो, एकमूर्तिः =एकमूर्ति कथम्=कैसे, भवेत्? = हो सकते हैं? ॥ २७ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें प्रत्येक देवके लांछन भिन्न-भिन्न प्रकारके कहे गये हैं। जैसे ब्रह्माका लाछन अक्षसूत्र महेश्वरका लांछन त्रिशूल तथा विष्णुका लांछन शंखचक्र कहे गये हैं। यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि एक देवके अनेक अवतार होने परभी लांछन दूसरा

नहीं होता। इसलिये लाञ्छन भिन्न होनेसे उक्त तीनों देव एकमूर्त्ति नहीं हो सकते, किन्तु भिन्न मूर्त्ति हीं है। ऐसी स्थितिमें एक मूर्त्ति तीन भाग कहना अत्यन्त अयुक्त है ॥ २७ ॥

**चतुर्मुखो भवेद्ब्रह्मा त्रिनेत्रोऽथ महेश्वरः ।**
**चतुर्भुजो भवेद्विष्णु रेकमूर्त्तिः कथं भवेत् ? ॥ २८ ॥**

पदार्थ-ब्रह्मा=ब्रह्मानामके देव, **चतुर्मुखः**=चारमुखवाले, **भवेत्**=हैं, अथ=तथा, **महेश्वरः**=महेश्वर नामके देव, **त्रिनेत्रः**=तीन नेत्र वाले हैं, **विष्णुः**=विष्णु नामके देव, **चतुर्भुजः**=चार भुज-बाहुवाले, **भवेत्**=हैं। तो, **एकमूर्त्ति**=एक मूर्त्ति, **कथम्**=कैसे, **भवेत्**=हो सकते हैं ? ॥ २८ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें ब्रह्मा चतुर्मुख कहे गये हैं, (किन्तु तीन नेत्रवाले नहीं।) तथा महेश्वर त्रिनेत्र कहे गये हैं, (किन्तु चतुर्मुख नहीं।) विष्णु चतुर्भुज कहे गये है, (किन्तु चतुर्मुख या त्रिनेत्र नहीं।) तो एक मूर्त्ति तीन भाग कैसे हो सकते है ? । यदि मूर्त्ति एक माना जाय तो विष्णुकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्मुख, एव महेश्वरकोभी चतुर्मुख तथा चतुर्भुज तथा ब्रह्माकोभी त्रिनेत्र तथा चतुर्भुज कहा जाता। किन्तु ऐसा नहीं हैं, चतुर्भुजसे विष्णु तथा त्रिनेत्रसे केवल महेश्वर तथा चतुर्मुखसे केवल ब्रह्मा हीं समझे जाते है। इसलिये एक मूर्त्ति तीन भाग नहीं, किन्तु तीनों पृथक् पृथक् मूर्त्ति ही हैं ॥ २८ ॥

व्यवहार नहीं है। इसलिये तीनों देव एकमूर्ति तीनभाग नहीं हैं—यह भाव है) ॥ ३१ ॥

कृते जातो भवेद्ब्रह्मा त्रेतायां च महेश्वरः ।
विष्णुश्च द्वापरे जात एकमूर्तिः कथंभवेत् ? ॥ ३२ ॥

पदार्थ—ब्रह्मा=ब्रह्मानामक देव, कृते=कृतयुग-सत्ययुगमें, जातः=उत्पन्न भवेत्=हुए थे, च=तथा महेश्वरः=महेश्वरनामके देव त्रेतायाम्=त्रेतायुगमें (उत्पन्न हुए थे।) च=और विष्णुः=विष्णुनामके देव, द्वापरे=द्वापरनामक युगमें, जातः=उत्पन्न हुए थे। तो एकमूर्तिः = एकमूर्ति, कथम् = कैसे, भवेत् ? = हो सकते हैं ? ॥ ३२ ॥

भावार्थ—पुराणोंमें सत्ययुग त्रेता द्वापर तथा कलियुग ये चारयुग कहे गये हैं। तथा सत्ययुगमें ब्रह्माका त्रेतायुगमें महेश्वरका, द्वापरयुगमें विष्णुका अवतार वर्णित है। तो एकमूर्ति कैसे हो सकते हैं ? (यदि एकमूर्ति हो तो प्रत्येक देवका पृथक् अवतार का वर्णन अयुक्त हो जायगा। एकमूर्ति मानने पर एक देवका अवतार दूसरे देवकाभी अवतार कहा जायगा। किन्तु ऐसा व्यवहार नहीं है। एक देवका अवतार दूसरे देवका नहीं कहा जाता। इसलिये तीनों देव एकमूर्ति नहीं है—ऐसा आशय है) ॥ ३२ ॥

ज्ञाने विष्णुः सदा प्रोक्तः ब्रह्मा चारित्रमुच्यते ।
सम्यक्त्वं तु ॥ ३३ ॥

पदार्थ—**ज्ञानम्**=केवलज्ञान, **सदा**=सर्वदा, **विष्णुः**=विष्णु, **प्रोक्तम्**=कहा गया है, **चारित्रम्**=चारित्र - सर्व सावद्यविरति - संयम, **ब्रह्मा**=ब्रह्मा, **उच्यते**=कहा जाता है, **तु**=तथा, **सम्यक्त्वम्**=सम्यक्त्व - सम्यग्दर्शन - जिनोक्ततत्त्वोंमें श्रद्धा, **शिव**=शिव - महेश्वर, **प्रोक्तम्**=कहा गया है। इसलिये, **अर्हन्मूर्त्ति**=तीर्थङ्करकी मूर्त्ति-तीर्थङ्कर, **त्रयात्मिका**=तीनों - ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वरस्वरूप है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—(उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि परतीर्थिकोंके महादेवके विषयमें 'एकमूर्त्ति तीन भाग' वाली वात घटित नहीं होती। तथा पूर्वमें यह भी कहा जा चुका है कि अर्हत् हीं ज्ञान, चारित्र तथा दर्शनके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर स्वरूप हैं। उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—) केवल-ज्ञान सदा हीं विष्णु कहा गया है। (पुराणोंमें पालक तथा व्यापक देवको विष्णु कहा गया है। केवलज्ञान कर्मशत्रुका नाशकरके उससे रक्षण करता है, तथा सर्वद्रव्यपर्यायविषयक होनेसे व्यापक-भी है, इसलिये पारमार्थिक रूपसे केवलज्ञान ही विष्णु है—यह भाव है।) चारित्र सदा ब्रह्मा कहा जाता है। (पुराणों में जगत् के सर्जन करनेवालेको ब्रह्मा कहा गया है। चारित्रभी सिद्धिरूपी सृष्टिका करनेवाला - सिद्धिप्रद है, इसलिये वास्तविक रूपसे चारित्रहीं ब्रह्मा है—यह अभिप्राय है।) तथा सम्यक्त्वको शिव कहा गया है। (पुराणोंमें जगतके संहार करनेवालेको शिव-महेश्वर कहा गया है। सम्यक्त्वभी कर्मोंके क्षयोपशमका हेतु होनेसे शिव कहा

जाता है। क्योंकि वस्तुतः कर्मके नाशसे ही जगत्-भयका नाश होता है। इसलिये सम्यक्त्व ही सात्त्विक रूपसे शिव है—यह आशय है।) इन तीनों गुणोंसे युक्त अर्हत् तीर्थङ्कर हैं। इसलिये वेही एकमूर्ति तीन ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वररूप भाग हैं। अर्थात् तीर्थङ्कर एकमूर्ति हैं, एवं उनके केवल दर्शन ज्ञान एवं चारित्ररूपी तीन पर्याय ही ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वररूप भाग हैं-ऐसा तात्पर्य है ॥ ११ ॥

क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः।
इत्येतेऽष्टौ भगवति गीता वीतरागे सुगुणाः ॥ १२ ॥

पदार्थ—क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाऽऽकाशसोमसूर्याख्याः=क्षिति पृथिवी जल, पवन, हुताशन—अग्नि, यजमान यष्टी, आकाश सोम चन्द्र तथा सूर्य आत्मा नामवाले इति एते=ये सभी अष्टौ=आठ, सुगुणाः=उत्तमगुण भगवति=भगवान् वीतरागे=वीतरागमें गीताः=वर्णित हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—(पुराणोंमें परतीर्थिक महादेवकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियां कही गयी हैं। किन्तु एकमूर्ति अष्टमूर्ति नहीं हो सकते - यह बात पूर्वमें एकमूर्तिके तीनमूर्ति नहीं होनेमें कही गयी युक्तियोंसे ही स्पष्ट है। किन्तु) वीतरागके क्षिति, जल, पवन, हुताशन, यजमान, आकाश, सोम तथा सूर्य ये आठ उत्तमगुण कहे गये हैं। (इसलिये वीतराग ही अष्टगुणमय होनेके कारण अष्टमूर्ति हैं यह भाव है) ॥ १२ ॥

**क्षितिरित्युच्यते क्षान्तिर्जलं या च प्रसन्नता ।**
**निःसङ्गता भवेद्वायु र्हुताशो योग उच्यते ॥ ३५ ॥**

पदार्थ—**क्षान्ति.**=क्षमा, **क्षितिः**=क्षिति, **इति**=इस शब्दसे, **उच्यते**=कही जाती है। **च**=और, **या**=जो, **प्रसन्नता**=निर्मलता-रूप गुण है, वह, **जलम्**=जल (कहा जाता है।) **निःसङ्गता**=वीतरागपन, **वायु**:=पवन नामका गुण, **भवेत्**=है। तथा, **योग**=शुक्लध्यान, समाधि, **हुताश**:=अग्निनामका गुण, **उच्यते**=कहा जाता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—(वीतरागके क्षिति आदि आठ गुणोका स्वरूप बताते हैं, जैसे–) क्षिति - पृथिवी सर्वसहा कही जाती है। वह शुभ या अशुभ - सब कुछ सहन करती है। इसलिये शक्ति रहने परभी किसीके अपराधका सहनरूप क्षमा हीं क्षितिनामका गुण कहा गया है। जल निर्मल होता है तथा दूसरेको भी निर्मल करता है, इसलिये कर्मके सर्वथा क्षय होजानेसे आत्माकी निर्मलताही जलनामका गुण है। किसी भी विषयमें रागका नहीं होना - वीतरागता ही - पवन नामका गुण है। क्योकि पवन मिट्टी या पानीके जैसे किसीभी वस्तुमें आसक्त नहीं होता। तथा अग्नि सभी पदार्थोंको जला देता है, योगभी सकल कर्मोंका नाश करता है। इसलिये योग अग्नि-नामका गुण कहा गया है ॥ ३५ ॥

**यजमानो भवेदात्मा तपोदानदयादिभिः ।**
**अलेपकत्वादाकाशसङ्काशः सोऽभिधीयते ॥ ३६ ॥**

पदार्थ—आत्मा = जीव, तीर्थंकरकी आत्मा, तपोदान दयादिभिः=तप दान तथा दया आदिगुणोंसे, यजमानः=यजमान भी, भवेत्=होती है। तथा, सः=वह आत्मा, अलेपकत्वात्= कहींभी लिप्त आसक्त नहीं होनेसे, अथवा कर्मसमूहसे लिप्त नहीं होनेके कारण आकाशसदृशः=आकाशसदृश, अभिधीयते=कही जाती है ॥ २६ ॥

भावार्थ—आत्मा तप, दान, दया आदि गुणोंके होनेसे यजमानरूप है। अर्थात् तप दान दया आदि ही यजमान नामके गुण हैं। तथा उनगुणोंके होनेसे आत्मा ही यजमान है। क्योंकि यज्ञोंके पालन करनेवालेको ही यजमान कहा जाता है। तथा वह आत्मा कर्मसे रहित होनेसे निर्लेप होजाती है। अर्थात् एकवार सकलकर्मोंके क्षय होजाने पर पुन उसमें कर्मलेप नहीं लगता। इसलिये निर्लेप आत्मा आकाशतुल्य कही जाती है। अतः आत्माकी निर्लेपता आकाश नामका गुण है ॥ २६ ॥

सौम्यमूर्तिरुचिश्चन्द्रो वीतरागः समीक्ष्यते ।
ज्ञानप्रकाशकत्वेन स आदित्योऽभिधीयते ॥ २७ ॥

पदार्थ—वीतरागः = वीतराग श्रीजिनेश्वर, सौम्यमूर्तिरुचिः=सौम्य मधुर मूर्ति शरीर, रुचि कान्ति, मधुर-शरीर कान्तिवाले हैं इसलिये, चन्द्रः=चन्द्रमाके जैसे, समीक्ष्यते=दीखते हैं। तथा, सः=वह वीतराग जिनेश्वर, ज्ञानप्रकाशकत्वेन=ज्ञान-ज्ञानके द्वारा प्रकाशकत्व पदार्थसमूह प्रकाशितकरनेसे समानतासे

होनेके कारण, आदित्यः=सूर्यसमान, अभिधीयते=कहे जाते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—वीतराग श्रीजिनेश्वरके शरीरकी कान्ति मधुर है, इसलिये वह चन्द्रके जैसे दीखते हैं। अर्थात् उनके शरीरकी मधुर आह्लादक कान्ति चन्द्रनामका गुण है। (क्योंकि चन्द्रभी आह्लादक है।) तथा वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते है। अथात् सभी प्राणियोंको सम्यग्ज्ञानका उपदेश देकर उनके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करते हैं, तथा मुक्तिमार्गका प्रकाशन करते है। अथवा वीतरागका ज्ञान सर्वपदार्थको ग्रहण-प्रकाशित करता है, इसलिये वे ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्में प्रकाशमान हैं, अतः वे सूर्यसमान कहे जाते हैं। (क्योंकि सूर्यभी अपने किरणोंके द्वारा सम्पूर्ण जगतको प्रकाशित करता है। इसलिये वीतराग जिनेश्वरका ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशन सूर्यनामका गुण है-यह भाव है। यहाँ इस प्रकार क्षिति आदि आठ गुणोंके होनेसे वीतराग जिनेश्वर अष्टमूर्त्ति हैं। किन्तु परतीर्थिकोंके अनुसार एकमूर्त्तिका अष्टमूर्त्ति होना असम्भवित है। इसलिये परतीर्थिकोंके इष्ट महादेव अष्टमूर्त्ति नहीं हैं। तथा उनमें रागद्वेष आदि होनेसे क्षमा आदि उक्तप्रकारके आठ गुणभी नहीं हैं। अतः इस प्रकारसे भी वे अष्टमूर्त्ति नहीं होसकते। किन्तु शब्दमात्रसे ही अष्टमूर्त्ति हैं-यह निष्कर्ष है) ॥ ३७ ॥

**पुण्यपापविनिर्मुक्तो रागद्वेषविवर्जितः ।**
**अर्हंस्तस्य नमस्कारः कर्त्तव्यः शिवमिच्छता ॥ ३८ ॥**

पदार्थ—अर्हन् = श्रीवीतराग अरिहन्त तीर्थंकर, रागद्वेष-विवर्जित =राग-विषयासक्ति, द्वेष-अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति, विवर्जित-रहित, रागद्वेषसे रहित हैं—वीतराग हैं। इसलिये, पुण्यपापविनिर्मुक्तः =पुण्य-शुभकर्म, पाप-अशुभकर्म, विनिर्मुक्त रहित, पुण्य तथा पापसे रहित मुक्त हैं। अतः, शिवम् = कल्याणकी, इच्छता = इच्छा करनेवालेको=कल्याण चाहनेवालेको तस्य=उस वीतराग अरिहन्तका ही, नमस्कार=नमस्कार प्रणाम-वन्दन-भक्ति, कर्त्तव्य= करना चाहिये। कल्याण चाहनेवाले वीतरागकी ही भक्ति करें॥ १८॥

भावार्थ तीर्थंकर रागद्वेषसे रहित वीतराग हैं तथा सम्यग् ज्ञान एवं चारित्रके पालनसे उनके सभी कर्मोंका क्षय हो गया है। अतः वे मुक्त हैं। क्योंकि रागद्वेषसे तथा पुण्य पापसे मुक्त ही मुक्त कहे जाते हैं। इसलिये कल्याण चाहने वालेको उनकी ही भक्ति करनी चाहिये। (जो देव रागद्वेष आदिसे युक्त हैं, वे मुक्त नहीं हैं। अतः उनकी भक्तिसे रागद्वेषका ही क्षय हो सकता है कल्याण मुक्तिका नहीं। अतः अन्य देवोंकी भक्ति त्याज्य है—यह भाव है) ॥ १८ ॥

अकारेण भवेद्विष्णू रफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तस्यान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥

पदार्थ — अकारेण= अर्हं ' यह मन्त्र अपने आदिमें स्थित अकाररूप वर्णसे, विष्णुः=विष्णुस्वरूप भवेत्=है तथा रेफे= 'अर्हं ' इस मन्त्रके रेफरूप वर्णमें, ब्रह्मा = ब्रह्मा नामके देव,

**व्यवस्थित**=रहे हुए है। **हकारेण**='अर्हँ' इस मन्त्रके हकार-रूप वर्णसे, **हर**=महेश्वर, **प्रोक्त**=कहे गये हैं। **तस्य**=उस हकार-रूप वर्णके, **अन्ते**=अन्तमें-ऊपरमें रहा हुआ अर्धचन्द्रविन्दु, **परमम्**=सर्वोच्च, **पदम्**=पद - सिद्धशिला है ॥ ३९ ॥

भावार्थ — जिनेश्वर श्री अरिहन्त देवका 'अर्हँ' यह मन्त्र ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तथा परमपद स्वरूप है। जैसे अकाररूप वर्ण-अच्युत आदि विष्णुवाचक शब्दोंमें अकार होनेसे - विष्णुका प्रतीक है। तथा रेफरूप वर्ण-ब्रह्माशब्दमें रेफ होनेसे - ब्रह्माका प्रतीक है। एव हकाररूपवर्ण - हर आदि महेश्वरवाचक शब्दोंमें हकार रहनेसे - महेश्वरका प्रतीक है। तथा अर्धचन्द्रविन्दु सिद्धाशिलाके आकारका होनेसे - परमपदका प्रतीक है। और 'अर्हँ' इस मन्त्रके देवता तीर्थंकर जिनेश्वर हैं। इसलिये जिनेश्वर, शब्दसे ब्रह्मा आदि स्वरूप हैं। गुणसे जिनेश्वरका ब्रह्मा आदि स्वरूप होनेका पूर्वमें प्रतिपादन किया जा चुका है ॥ ३९ ॥

**अकार आदि धर्मस्य मोक्षस्य च प्रदेशकः ।**
**स्वरूपं परमज्ञानमकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४० ॥**

पदार्थ — **अकार** ='अर्हन्' इस पदके आदिका अकाररूप वर्ण, **आदिधर्मस्य**=आदि - मुख्य तथा सर्व प्रथम उपदिष्ट होनेके कारण सभी धर्मोंके आदिभूत धर्मका **च**=तथा, **मोक्षस्य**=मोक्षका, आदि मोक्षका, **प्रदेशक** =प्रतिपादक है। तथा, **स्वरूपम्**=अरिहन्तके स्वरूपभूत, **परमज्ञानम्**=परम - सर्वोत्कृष्ट ज्ञान - केवलज्ञान - आदि

ज्ञात है, तेन=इसलिये, अकार=अर्हन् पदका आदिभूत अक्षर, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४० ॥

भावार्थ अकाररूप वर्ण मातृकापाठमें प्रथम अक्षर है, तथा अर्हन् पदकेभी आदिमें है। इसलिये यह, तीर्थंकरने युगके सर्वप्रथम युगादिमें धर्मका उपदेश किया था, तथा वे ही सर्वप्रथम चारित्रका पालन कर मुक्त हुए थे, एवं वे परमज्ञान केवलज्ञान स्वरूप थे इन सभी भावोंका बोधक है। इसलिये अर्हन् पदके आदिमें अकार कहा गया है। अर्थात् अर्हन् पदका प्रथम अक्षर अकार तीर्थंकरसे उपदिष्ट धर्म ही आदि धर्म है, तथा वे ही आदि मुक्त एवं आदि केवलज्ञानी हैं—ऐसा सूचित करता है। इन सभी भावोंकी सूचना केलिये ही अर्हन् पदमें सर्वप्रथम अकाररूप अक्षर कहा जाता है—यह आशय है ॥ ४० ॥

रूपिद्रव्यस्वरूपं वा दृष्ट्वा ज्ञानेन चक्षुषा।
दृष्टं लोकमलोकं वा रकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४१ ॥

पदार्थ-ज्ञानेन=ज्ञानरूप, चक्षुषा=नेत्रसे रूपिद्रव्यस्वरूपम्=रूपि मूर्त द्रव्य पुद्गल, स्वरूप तत्त्व, पुद्गलके अनेकान्तरूप यथार्थतत्त्वको दृष्ट्वा=जानकर, वा=पुनः, लोकम्=चौदह रज्जुप्रमाण लोकाकाशमें अवस्थित सभी द्रव्यों तथा उनके पर्यायोंको, वा=तथा अलोकम्=लोकसे अतिरिक्त अलोकाकाशको, दृष्टम्=(केवलज्ञान रूपी नेत्रसे) जाने थे तेन=इसलिये रकार=अर्हन् पदमें रेफ, प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ - तीर्थंकरने संसारी अवस्थामें मति, श्रुत तथा अवधि-ज्ञानसे युक्त होनेके कारण सभी पुद्गलोंके यथार्थ तत्त्वको ज्ञानरूपी नेत्रसे जानकर, (दीक्षा ग्रहणके बाद घातिकर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान होनेपर उस केवलज्ञानरूपी नेत्रसे) लोक तथा अलोकको देखे-जाने थे। इसलिये अर्हत् पदमें प्रथम रूपी द्रव्योंके पश्चात् सभी पदार्थोंके क्रमश. ज्ञानका सूचक रेफ कहा जाता है। (क्योंकि रूपिशब्दमेंभी रेफ वर्ण है, तथा अर्हन् - तीर्थंकर केवलज्ञानी हैं। इसलिये दोनोंके क्रमका सूचन रेफके द्वारा किया जाता है) ॥ ४१ ॥

**हता रागाश्च द्वेषाश्च हता मोहपरीषहाः ।**
**हतानि येन कर्माणि हकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४२ ॥**

पदार्थ - **येन**=चूंकि, **रागाः** = विषयासक्तियोंका, **च**=और, **द्वेषाः**=अनिष्ट विषयमें अप्रीतियोंका, **हताः**=नाश - त्याग किये, **च**= पुनः, **मोहपरीषहा** =मोह - ममता, परीषह-भूख, प्यास, ठढी, गरमी आदि बाईस परीषह - इन सभीका, **हता** =नाश - त्याग तथा सहन किये हैं। तथा, **कर्माणि**=शुभ तथा अशुभ कर्मोंका, **हतानि**=क्षय किया है, **तेन**=इसलिये - राग, द्वेष, मोह, परीषह तथा कर्मोंका नाश करनेके कारण, **हकार** =अर्हन् पदमें हकाररूप अक्षर, **प्रोच्यते**= कहा जाता है ॥ ४२ ॥

भावार्थ - चूंकि तीर्थंकरदेवने सभीप्रकारके राग, द्वेष, मोह, परीषह तथा कर्मोंका (अपने असाधारण एवं अलोकिक ज्ञान तथा

चारित्रके बलसे ) नाश किया है। इसलिये राग आदिके हननका सूचक हकाररूप अक्षर अर्हन् पदमें कहा जाता है ॥ ४२ ॥

सन्तोषेणाऽभिसम्पूर्णः प्रातिहार्याऽष्टकेन च ।
ज्ञात्वा पुण्यं च पापं च नकारस्तेन प्रोच्यते ॥ ४३ ॥

पदार्थ पुण्यम्=शुभकर्म, च=और, पापम्=अशुभकर्मको, च=भी, ज्ञात्वा=जानकर, सन्तोषेण=सन्तोष भावशुद्धिसे, अभिसम्पूर्ण=सभी प्रकारसे भरे हुए—भावसुलमम, च=तथा, प्रातिहार्याऽष्टकेन=चैत्यवृक्ष छत्र दुन्दुभि आदि आठ प्रातिहार्योंसे ( अभिसम्पूर्णः=विराजित ) हैं । तेन=इसलिये, नकारः=अर्हन् पदमें नकाररूप अक्षर प्रोच्यते=कहा जाता है ॥ ४३ ॥

भावार्थ अरिहन्त श्रीतीर्थंकर देवने पुण्य तथा पाप ( एवं उनके हेतुओं )को जानकर ( तत्त्वज्ञान् प्राप्त होनेसे आस्रवोंका त्याग करके ) सन्तोष–उपशमसे युक्त हुए तथा अतिशयके प्रभावसे समवसरणमें चैत्यवृक्ष, छत्र, दुन्दुभि आदि प्रातिहार्योंसे विराजित हुए। इसलिये अर्हन् पदमें नकार कहा जाता है। अर्थात् अर्हन् पदमें रहा हुआ नकार तीर्थंकरके पुण्य पापके तत्त्वज्ञान उपशम तथा प्रातिहार्याऽष्टकका सूचक है ॥ ४३ ॥

भवबीजाऽङ्कुरजनना रागादयः क्षयमुपगता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ ४४ ॥

इति कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितं श्रीमहादेवस्तोत्रं समाप्तम् ॥

पदार्थ—**यस्य**=जिसदेवके, **भवबीजाऽङ्कुरजननाः**=भव - संसार, बीजाऽङ्कुर - मूलभूतकारण, जनन - उत्पन्नकरनेवाले - साधन - संसारके मूलभूतकारणरूप कर्म तथा जन्म आदिके हेतुभूत, **रागादयः**=रागद्वेष आदि, **क्षयम्**=नाशको, **उपगताः**=प्राप्त होगये हैं - नष्ट होगये हैं। वह, **ब्रह्मा** = ब्रह्मानामके देव हों, **वा** = अथवा, **विष्णुः**=विष्णुनामके देव हो, **वा**=अथवा, **हरः**=महेश्वरनामके देव हों, **वा**=अथवा, **जिनः**=जिनेश्वर तीर्थंकर हों, **तस्मै**=उन वीतराग-देवको, **नमः**=मेरा नमस्कार है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—भवके आदि तथा मुख्यकारणरूप रागद्वेष आदि जिन देवके नष्ट होगये हैं, अर्थात् जो देव वीतराग है। वे नामसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर या जिनेश्वर - कोईभी हों, उनको मेरा प्रणाम है। (क्योंकि गुणसे हीं किसीकी पूजा होती है, केवल व्यक्तिकी नहीं। ऊपरके विवेचनोंसे - जिनेश्वर हीं वीतराग है, ब्रह्मा आदि देव नहीं-यह स्पष्ट हो चुका है। फिरभी अपनी तटस्थता सूचित की गयी है। व्यक्ति कोईभी हों, गुणग्राहीको व्यक्तिके विषयमें पक्षपात नहीं होता है, किन्तु गुणके विषयमें हीं पक्षपात होता है - यह ध्यान देने योग्य है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहादेवस्तोत्रे तपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरि-प्रभृत्यनेकतीर्थोद्धारकबालब्रह्मचार्याचार्यवर्यश्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कार - समयज्ञ - शान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वर - पट्टधर -

सिद्धान्तमहोदधि-प्राकृतविद्याविशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्य-पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित- कीर्तिकलाख्यो हिन्दी-भाषानुवाद समाप्त ॥

॥ श्रीरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥

॥ श्री ॥

पन्यासश्रीकीर्तिचन्द्रविजयगणिविरचित

कीर्तिकलाव्याख्या-सहितानि पुस्तकानि—

**द्वात्रिंशिकाद्वयी** (क स. हेम. विरचिता-अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका) कीर्तिकलासंस्कृतव्याख्या सहिता।

**द्वात्रिंशिकाद्वयी** कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता।

**श्रीवीतरागस्तवः** (क स हेम विरचित) कीर्तिकलासस्कृतव्याख्या-सहित।

**श्रीवीतरागस्तवः** कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहित.।

**स्तोत्रत्रयी** (क स हेम विरचितानि सकलार्हत्स्तोत्रवीरजिनस्तोत्र-महादेवस्तोत्राणि) कीर्तिकलाख्यसंस्कृतहिन्दीव्याख्यासहिता।

**स्तोत्रत्रयी** कीर्तिकलाहिन्दीभाषानुवादसहिता।

प्राप्तिस्थानम्—

**श्रीजनकलाल कान्तिलाल**

लिम्बडी शेरी, पेटलाद

वाया—आणन्द (गुजरात)